वर्षगाँठ

[कहानी संग्रह]

सुमित्रा कुमारी सिनहा

अचल सुहाग तथा विहाग की लेखिका

Sumitra Kumari

प्रकाशक

चौधरी राजेन्द्रशंकर

युग मन्दिर, उन्नाव

मूल्य सवा रुपया

॥५१८ ॥५१८ ॥५१८

[illegible]

मांके सुगत मांके सुगत मांके [illegible]

[illegible]

गई है वह; नहीं तो आज बनाव-सिंगार करके बैठा दी जाए तो क्या किसी सुन्दरी से कम जान पड़े? लेकिन यहाँ तो कुढ़ते ही जीवन बीतेगा। आई थी, तब सास, ससुर, देवर, जिठानी और ननदों के झगड़े तूफ़ान उठाया करते थे। पति की कमाई न थी, सब की सह, अपने को दबाकर रहना पड़ता था। अब अपने मर्द की कमाई है, सास, ससुर, जेठ-देवर एक-एक कर सब अलग होगये तो भी आज वही झींकना और रोना है! ऐसी जिन्दगी भी क्या है जिसमें न कभी खुशियों का चाँद चमका, न सुख की धूप चटकी। आशाओं की कली खिलना तो दूर रहा, उमंगों का सवेरा ही न हुआ! सदा दुख की बदली घिरी रही, आँसुओं की बरसात छाई रही, और प्रलय के झंझा-वात उठते रहे—ओह! मैली धोती के आँचल के छोर से माया ने टपकती हुई आँखें पोंछ लीं। आते होंगे, रोटी तैयार न मिली तो और भी फ़जीहत होगी। हर बात में झिड़की और फटकार, अपमान और अवहेलना! हाय! कभी प्रेम से दो बातें न पूछीं....नहीं जानते किस तरह अपना पेट काटकर वह उनका और बच्चों का पेट भरती है। लेकिन अरे! यह सब वह क्यों सोच रही है....?....

जल्दी-जल्दी खाना-वाना ढाँक रख, बर्त्तन धो, चौका साफ़ कर, माया चारपाई बिछा, दिया-बत्ती कर, कल के लिए थोड़ा सा बाजरा पीसने चली—सहसा विष्णु ने घर के अन्दर प्रवेश किया। हाथ की डलिया ज़मीन पर रख, माया जल्दी से पति के हाथ-पैर धुलाने को पानी ले आई, चिलम में आग धरने जा रही थी कि हरी लालटेन से अपनी उँगली जलाकर चिल्लाने लगा। मुन्नन पेन्सिल बनाते में चाकू से उँगली काटकर सिसक रहा था। कमला छोटी सी मिट्टी की बनी अँगीठी तापने को आग लिए आ रही थी कि आँगन में कीचड़ से फिसलकर गिरी धड़ाम से!

मँगते !

मिस्टर सुशीलकुमार चटर्जी अपने ड्रेसिंग रूम से, निकलकर ड्राइंग रूम में आ बैठे। टेबिल पर से सिगार-केस उठाकर एक सिगार सुलगाया और मुँह से लगाकर ईज़ी चेयर पर उन्होंने पैर पसारे ही थे कि सामने लॉन में एक बैंड बजानेवालों का दल का दल आता दिखलाई पड़ा। छोटे बड़े आठ बरस से लेकर १८ बरस तक के लड़कों का पीली टोपी और नीली नेकर की वर्दी में बैंड बजाते हुए घुस आना चपरासी की अनुपस्थिति में ही सम्भव था। सबके गले में कमर से लिपटे हुए परतले पड़े हुएथे जिन पर हिन्दी के बड़े-बड़े काले अक्षरों में लिखा था--"जैन अनाथाश्रम कानपुर"। लड़के ज़ोर शोर से बैंड बजाते हुए नज़दीक आ रहे थे कि लपककर उस दल का मन्त्री गले में झोला डाले एक हाथ में रसीद बुक और दूसरे में सार्टीफ़िकेट की शीशा जड़ी तख़्ती लेकर मिस्टर चटर्जी के ड्राइंग रूम में दाख़िल हो गया। चटर्जी साहब ने एक बार ऊपर से नीचे तक उसे कड़ी निगाहों से घूरा। मैले वसन दुर्गन्ध की लपटों से वातावरण को अग्राह्य बनाए दे रहे थे। बैंड की ध्वनि कानों के पर्दे फाड़े डाल रही थी। चटर्जी साहब मुँह का सिगार होठों के एक कोने में ही दबाए, तेवरियाँ बदल, धुएँ के साथ ज़हर उगलते हुए बोले—"चलो, चलो, साहब को इन सब की फ़ुरसत नहीं।" और साहब को अपनी प्रज्ज्वलित लाल आँखों की चिनगारियाँ भी उस पर फेंकना दुसह लगा। उन्होंने मारे घृणा के गर्दन झटककर मुँह दूसरी ओर फेर लिया। आगत व्यक्ति इस उपेक्षा की घृणा के अभ्यस्त थे। आत्मसम्मान और लज्जा उन्होंने घोल पीकर पचा ली थी। आजिज़ी के साथ खीसें नीपोरकर बोले--"साहब, अनाथों के लिए माँगते हैं। दया कीजिए बड़ा पुण्य होगा!"

साहब की सुर्ख़ आँखें इस बार बाहर ही निकल आईं—वज्रगम्भीर स्वर से कड़ककर साहब ने कहा—"पुण्य के बच्चे! निकल जाओ! बड़े चले कहीं के मँगते!"

क्रोध के इस प्रचण्ड उत्ताप के आगे मन्त्री महोदय का साहस कपूर की भाँति उड़ गया, और चुपचाप वहाँ से खिसकने में ही उन्होंने अपनी कुशल समझी।

साहब ने ईज़ीचेयर पर से उठकर फिर एक सिगार सुलगाया और कश खींचते हुए इधर से उधर टहलने लगे। दो तीन मिनट बाद वह बैठकर फिर अख़बार उलटने लगे।

मुश्किल से पन्द्रह मिनट बीते होंगे कि बाहर से एक स्त्री के कातर-कंठ की क्षीण आवाज़ चटर्जी साहब के कानों से आ टकराई। उन्होंने गर्दन घुमाई तो सामने मैले कुचैले फटे वस्त्रों में घूँघट से मुँह ढाँके एक नारी-मूर्त्ति। गोद में एक कंकालमात्र बच्चा चिपका था। उसके अंगसंचालन के कोई चिह्न नहीं दिखाई देते थे।

साहब को इधर गर्दन घुमाते देख स्त्री गिड़गिड़ाकर बोली—"बाबू साहब की दुहाई, आपके लाल जिएँ! एक पैसा! इस मरते बच्चे की जान बचा लें भगवान्!"

साहब इस समय अख़बार में ५००० की एक पज़िल साल्व कर रहे थे। विघ्न पड़ते ही उनका टेम्परेचर फ़ुल प्वाइन्ट पर पहुँच गया। भँवें तन गईं। आपे से बाहर होते हुए वह चिल्ला उठे—"निकल जा, यहाँ से!" और फिर तुरन्त उन्होंने अपने चपरासी को आवाज़ दी—'माधो'! 'माधो'!! कहाँ जाकर कम्बख़्त मर गया है? यह सब क्या बावेला मेरे सर पर मचा रक्खा है। इन लोगों को निकाल बाहर कर।"

माधो काँपता हुआ दौड़ा। भिखारिन की निरीह सजल दृष्टि और दीन वेष देख माधो के हृदय में करुणा जाग उठी। उसने कृत्रिम क्रोध से उसे दुतकार दिया, और बाहर जाकर चुपके से टेंट से एक पैसा निकाल, उसे हाथ पर रख भागा। असीसती हुई वह जल्दी-जल्दी आगे बढ़ गई।

संयोग की बात। किसी-किसी दिन तो भिखमंगों की बाढ़ सी आ जाती है। एक के बाद दूसरा, जान पड़ता है फ़ौज की फ़ौज धावा बोल देने पर तुल गई हो।

मिस्टर चटर्जी अपने यार दोस्तों के साथ लालपरी का रंग चढ़ा

रहे थे। एक पर एक बोतलें खुलतीं, और बरफ़ सोडा मिलाकर ख़ाली कर दी जातीं। सुरूर चढ़ रहा था, उधर रेडियो में ख़ुरशीद बानो का—"रात सैयाँ तूने जादू किया था !" दूसरा ही नशा चढ़ा रहा था। फ़्लाश जमने की तैय्यारी हो रही थी। सहसा फिर एक साधु वेषधारी महाराज एकतारा पर "दया दयालू करते जाओ, झोली मेरी भरते जाओ"—की तान अलापते हुए आ खड़े हुए बराण्डे में।

साहब के आमोद-प्रमोद में यह वीभत्स रूप कहाँ से आ गिरा ? शराब के नशे में क्रोध का जो नशा मिलकर चढ़ा तो उतरा जाकर माधो की गरदन पर। रुआँसे माधो को हुक्म हुआ—ऐसे भिखमंगों को धक्के मारकर निकाल आए।

चटर्जी साहब ने सुरा के शीतल अधरों से रोष-ज्वाला शान्त की। डिप्टी चन्द्रशेखरलाल की ओर पेग बढ़ाते हुए बोले—"आज इन लोगों के कारण ऐसा कुछ मूड खराब हुआ है कि क्या कहूँ ? मुझे एक ऐसा डीसेन्ट बँगला तलाश कर दीजिए जिसमें लॉन के अलावा फाटक भी हो। मैं तो माँगनेवालों से परेशान हो गया हूँ। आए दिन खोपड़ी पर एक न एक भुक्खड़ कम्बख़्त आ धमकता है। चपरासी को कहाँ तक तैनात रक्खूँ, किसी समय ग़ैरहाज़िर हुआ नहीं कि मेरी मुसीबत आ जाती है। मुझे तो इन भिखमंगों की तरफ़ देखना बरदाश्त नहीं होता, क्या करूँ डिप्टी साहब, परेशान हूँ।"

संध्या ने अपनी काली काली चितवन फेंकी, शहर की बत्तियाँ जल उठीं। चटर्जी साहब का ड्राइंग रूम भी बिजली के तीखे आलोक से हँस पड़ा। साहब बाहर जाने की ड्रेस में सुसज्जित बैठे थे, शायद किसी की प्रतीक्षा में। इतने में दनदनाती हुई एक आस्टिन कार आकर पोर्टिको में खड़ी हो गई। मिस रेनुका देवी आबेरवाँ के झीने परिधान में झलमलाती हुई उतरकर साहब के ड्राइंग रूम में दाख़िल हुई। साहब तथा उनके मित्रों ने सोल्लास सस्मित हास्य से उठकर उनका स्वागत किया, और उछलते हुए हृदयों से हाथ मिलाए।

बलखाती नवयुवती ने मुस्कान का अमृत बखेरते कहा—"मुझे ज़रा देर हो गई, माफ़ कीजिएगा।" उसके होठों में गुलाब की पंखुरियों ने

अपना मुँह देखा। युवकों के प्राणों में रस की लहर मचली। नसों में एक अजीब गुदगुदी दौड़ी। डॉक्टर बिड़ला ने मधुर मुस्कराहट भरे मृदु शब्दों में कहा—"अभी तो देर नहीं हुई है, बस अब चल दीजिए।" डिप्टी साहब आँखों से ही रूप-सुधा का पान कर बेसुध हो रहे थे। चटर्जी साहब ने मानो बेहोशी से दूर हटते हुए चौंककर कहा—"ओ! हम लोग तो बिलकुल तैय्यार हैं, बस आप एक पेग ले लें और हम लोग उठ पड़ें।"

रेनुका देवी ने एक नज़ाकत भरी मुद्रा से लचककर मधु-गीतों के स्वर में ठुमुककर कहा—"थैंक्यू! लेकिन मैं आपके इसरार पर बस इसे होठों से लगाकर ही रख दूँगी।" तत्काल चटर्जी साहब ने पेग उसके होठों से लगा दिया। बैरिस्टर साहब चट सिगार निकालकर उसके होठों में लगाने चले!

सिनेमा हॉल में बॉक्स पर अगल-बगल बैठे हुए युवकों ने रेनुका से एक चुम्बन का दान माँगा, किन्तु वह नये फ़ैशन की युवती कब इन याचनाओं का मूल्य आँक सकती थी। उसने उनके करपल्लवों को अपनी रेशमी हथेलियों में लेते हुए झूमकर कहा—"उफ़! तुम मँगतों के मारे......।"

सफल नारीत्व

अपने चारों ओर शंकित नेत्रों से देखते हुए, माला ने झुककर एक छोटी सी सन्दूकची भी उठाकर रख ली, और इधर-उधर से धोती, चादर वग़ैरह लपेटकर कसकर गठरी बाँध ली। फिर ज़रा सीधी होकर एक संतोष की ठंडी साँस छोड़ दरवाज़े के सहारे उठँग सी रही। मन ने कुरेदा—कहाँ जाना होगा? क्या करना होगा? मायके की शरण वह लेगी नहीं ...और कौन है......हाँ विजय ...लेकिन उसका कुछ पता नहीं, और क्या वहाँ भी अपना व्यक्तित्व

वह निर्बन्ध रख सकेगी ? उफ़ ! आज मालूम हुआ जीवन-पथ कितना कठिन है और बोहड़......भावनायें सजग हुई......लेकिन चलना तो होगा ही......आज इस ओर या उस ओर । बाधाओं को ठुकराकर ही तो वह सफलता के शिखर पर चढ़ पाएगी। आत्मनिर्भरता ने हुंकार भरी—आगे बढ़े बिना निस्तार नहीं। नित्य की गाली और मार भी कौन सह सकता है। आख़िर अपना भी तो एक जीवित मनुष्य का मन है ? कि सब के ऊपर उन्हीं का आधिपत्य है ! क्या सारे अधिकार उन्हीं की इच्छा के नीचे पंख समेटे दुबके पड़े हैं ? ऐसा तो नहीं......! किन्तु नारी को दुर्बल जो कहा जाता है । वह पुरुष की तरह अपनी जीविका का उपार्जन जो नहीं कर सकती......माला की भँवों पर बल पड़ गये......हुँः......एक कड़ुवी घूँट सी जैसे गले के नीचे उतर गई हो—तो क्या सचमुच वह अपने मन की हत्या कर सकती है, तन को पुरुष के इङ्गित मात्र पर अर्पण कर सकती है—लेकिन पेट के लिए स्वतन्त्र होकर कमा नहीं सकती?...हुँः...एक विकृत हँसी माला के होठों पर उभर आई......पेट के लिए यह ग़ुलामी नहीं तो क्या है ? ढोंग है यह सब ! कैसी अभेद्य दीवार है जो यह नारी अपने को असमर्थ समझ लाँघ नहीं पाती ? इस आवरण को चीरकर खुले में झाँकने का साहस बटोर नहीं पाती ? कुछ नहीं। वह जो सोच चुकी है उसे आज करना है। उसका निश्चय तो आज अडिग हो चुका । आवेश से कम्पित होठों को दबाकर माला आँगन में आई—पाइप से मुँह-हाथ धोया, अस्तव्यस्त धोती को ठीक कर बिखरे बालों को सहेजा और गठरी उठा दालान से बाहर आ गई।

आँगन पार हो गया था। बाहर के दरवाजे की चौखट पर क़दम रखते ही वह सिहर उठी—युगयुग के संस्कारों ने सिर से पैर तक कँप-कँपी भर दी। नसों में झटका हुआ, हृदय धकधक कर उठा—'नन्हा' ? ...और माला की नारी का मातृत्व बिलख पड़ा ! बोझ से लदी हुई छाती दो टूक होने लगी ! बिछुड़ते हुए अपने कलेजे के टुकड़े को एक बार जी भर कर निहार लेने के लिए आँखें छलछल कर बरस पड़ीं। कुरेदती हुई वेदना शरीर भर में दौड़ी और घड़ी भर को बेसुध

बना दिया उसने माला को। वह खोयी-सी, लुटी-सी, ठगी-सी खड़ी रही। रोदन के उच्छ्वास फूल-फूलकर उमड़े, बरसता रहा माला का नन्हा सा, काले काले बादलों से गिरा हुआ, झुकाझुका मन। बरसकर जब खाली हो गया—वह गठरी वहीं छोड़, बैठक के कमरे के दरवाजे पर पहुँच गई। झाँककर देखा—उसका फूल सा नन्हा, बिहारी के पलँग पर उससे चिपटा पड़ा सो रहा था। माला का जी उमड़ा—दौड़कर वह अपने 'नन्हा' को उठा लाए। मातृत्व करोंचने लगा। किन्तु हाय! नारी, असहाय असमर्थ नारी, अपना रक्त भी तो पिलाने के लिए तेरे पास एक बूँद नहीं। एक दीर्घ उच्छ्वास निकला और सिसकियाँ फूट पड़ीं। उसके जी को अन्दर ही अन्दर कोई मरोरे डाल रहा था। हिचकियों का बाँध टूटने लगा। उससे वहाँ खड़ी न रहा गया, वह उलटे पैरों लौट पड़ी। आँसू की बूँदें टपक रही थीं लेकिन माला के पैरों में बिजली की सी तीव्रता भर गई थी। संसार की कठोर वास्तविकता और भविष्य की विकट निःसहायता की भावना उसके कुण्ठित हृदय को झँझोड़ रही थी। हाथों में गठरी थामे वह स्टेशन की ओर बढ़ी चली जा रही थी।

सामने अन्धकार का स्तूप था और हृदय में बिजली की तड़पन। पास की किसी दूकान में लगी बड़ी घड़ी ने टनटन कर ९ बजने की सूचना दी और माला झपटती हुई स्टेशन पहुँची। जी० आई० पी० लगी हुई थी, झटपट उसने झाँसी का टिकट खरीदा और ट्रेन में जाकर बैठ गई।

डिब्बा आधे के लगभग खाली ही था। सामने की सीट पर बैठे हुए दो नवयुवकों ने आपस में कानाफूसी की। बग़ल के, किनारे के लोग जानवरों की तरह घूरते ही रहे—जैसे अकेली नारी को पा, सब उसे समूचा ही निगल जाना चाहते हों किन्तु वातावरण की लोलुपता उसे छू नहीं गई। कारण, माला अपने आँसुओं में डूबी हुई अपने व्यक्तित्व को विद्रोह की चिनगारियों से झुलसाये हुए मौन बैठी थी। और अपने शरीर के चारों ओर दर्शनीयता भी उसने नहीं लिपटा रक्खी थी—यह भी एक कारण हो सकता है। विचारों में बहती हुई

न जाने कहाँ किस दूरी में समाई सी जा रही थी। बिहारी के साथ उसकी सामाजिकता का क़िला आज ढह गया था। सब कुछ तोड़-फोड़कर वह आज जा रही थी—उसी कठोर समाज की विडम्बना में या सहानुभूति और स्नेह की दो बूँद पाने को मानवता के विशाल आँचल में—इसी द्विविधा से भरा अपना अन्तस्तल लिए हुए।

और माला की तन्द्रालस आँखें जो खुलीं, तो झाँसी के स्टेशन पर उसने ट्रेन को रुकी पाया।

आन्तरिक उलझनों की सजीव तस्वीर बनी माला ने अपनी गठरी उठाई और चुपचाप डिब्बे से उतर आई। प्लेटफ़ार्म के बाहर आकर उसने एक सस्ते ताँगे की तलाश की। देर में वह मिला, और तब धड़कता हुआ हृदय दबाकर वह बैठ गई। ताँगेवाले से एक किसी धर्मशाला में ले चलने को कहकर वह चल पड़ी।

ताँगा अभी पचीस क़दम ही चला होगा कि सामने से लक़दक़ वस्त्रों से सुसज्जित, चमचम जूतों से चर्रमर्र करती हुई नवयुवकों की एक टोली आती दीख पड़ी—उनमें से एक ने ढिठाई से हँसते हुए ताँगे की सवारी के प्रति आवाज़ कसी—"मैं भी आ जाऊँ ?"...... माला के मन की निष्क्रिय वेदना क्रोध के अंगारे में जल उठी। जब तक उसकी चिनगारियाँ उछलकर उन तक पहुँचें, ताँगा आगे बढ़ गया था। विमूढ़ माला के मन में फिर विद्रोह गरजने लगा—अकेली नारी को पाकर पुरुष-समुदाय क्यों उसे समूचा निगल जाने को तैयार रहता है ? क्या नारी इतनी दुर्बल है ? अपनी रक्षा के उपाय में इतनी अशक्य है ? अथवा घर की चहार-दीवारी में रानी देवी बनकर रहती हुई नारी को जन्मघुट्टी के साथ यह कायरता और दुर्बलता घोलकर पिला दी जाती है कि हीन-भावना से विंधी रह वह अपने जीवन का सत्यानाश करती रहे। या......माला ने दूसरा पहलू टटोला......या विधिनिषेधों में बँधे हुए इन पुरुषों के सेक्स-जीवन की प्रतिक्रिया है यह ! सभ्य सुसंस्कृत कहलानेवाले इन युवकों के विवाह की असफलता ही इस तरह छिछोरापन करने के लिए बाध्य कर देती है इन्हें। नारी से दूर रहने की शिक्षा और संस्कार जो भरे रहते हैं, वही क्या समय

पाकर नहीं उभर आते ? कितने लाचार हैं ये युवक......नारी-जीवन के सम्पर्क में आने की कमी का अनुभव ही इस तरह कच्ची और सस्ती भावुकता अथवा धृष्टता, असभ्यता के लिए इन्हें बाध्य कर देता है। इसे उच्छृङ्खलता का नाम देते हुए समाज बड़े दम्भ से इनकी भर्त्सना कर सकता है, किन्तु इनकी तह में पैठकर देखनेवाली आँखें उसके पास कहाँ हैं ? सामाजिक दायरे के अन्दर क़ानून के अन्दर ही चलने की शिक्षा को लिये हुए सेक्स संबंधी निषेधों का प्रभाव इन युवकों पर किस तरह पड़ता है, यह समझनेवाला विवेक अन्धे और खोखले समाज के पास कहाँ है ? सेक्स की अतुष्टि ही क्या इसके प्रति ज़िम्मेदार नहीं ?

इन सारे तर्कवितर्कों और सड़क के कोलाहल के बीच चली जा रही माला चौंक उठी—जबकि चलते हुए ताँगे की बग़ल से एक कमसिन छोकरा शायद कुछ ख़रीदने झटपट जाता हुआ सा—हाथ का कटोरा ताँगे के पाँवदान पर पटक—तूने तो मुझे ज़ालिम दीवाना बना डाला......का तराना छोड़ तेज़ी से पीछे निकल गया। धूप में पड़े शीशे के प्रतिबिम्ब की तरह क्रोध से उद्दीप्त माला ने गर्दन घुमाकर जो देखा तो होठों में बुदबुदा उठी—शैतान कहीं का......और दूसरे ही क्षण जाने क्या सोच उसे हँसी आ गई। ताँगेवाला क्रोध से बड़-बड़ा रहा था—साले पाजी कहीं के—जहाँ देखी अकेली ज़नानी सवारी लगे बलबलाने। मैं तो इधर को मुँह किए बैठा था नहीं खींचकर वह ज़न्नाटे का कोड़ा रसीद करता कि तीन पुश्त की याद हो आती बचा को—साले बदमाश, जितने बड़े हैं नहीं उतनी बड़ी बात......और उसने मानों अपने क्रोध के उफान को ही अपने कोड़े में भर सड़ाक-सड़ाक घोड़े पर उतार दिया।

दोपहर की किरणें प्रखर हो उठी थीं। धर्मशाला में पहुँचकर माला ने कुछ भोजन की व्यवस्था की। पास में कुछ पैसे थे, वही सहायक हुए। और फिर वह निकल पड़ी शहर के मुख्य-मुख्य भागों को देखने के लिए। शाम होते-होते वह लौट आई। लेडी-हॉस्पिटल की अध्यक्षा ने उसे दूसरे दिन आने के लिए कहा था। दिन भर की क्लान्ति-शिथिल

वह चुपचाप अपनी कोठरी में पहुँच किवाड़ बन्द कर पड़ रही। गालों पर फूटी हुई अश्रु-धाराओं ने सूखकर उसे स्वप्न-लोक में पहुँचा दिया। अतीत की कड़ुवी मीठी स्मृतियाँ लौट-लौट उसे भर गले मिलीं। रात ने अपना फेरा पूरा किया, और धर्मशाला के सामने के मन्दिर का घन्टा बजते ही माला ने अपनी आर्द्र पलकें खोल दीं।

उस दिन भी काम पूरा न हुआ। कई स्कूल और आश्रमों की परिक्रमा कर माला लौट आई। पेट के लिए कोई धन्धा उसे करना ही था। पास में इतने पैसे भी तो नहीं थे कि आठ दिन भी पूरे करती। दो एक हलके गहनों को वह छिपाए रखना चाहती थी। न मालूम किस समय उसे उनकी ज़रूरत पड़ जाए। दो पैसे के चने लेकर उसने उस दिन पानी पिया और चल पड़ी।

पाँच दिन निरन्तर दौड़ तथा अनुनय विनय के फलस्वरूल उसने स्थानीय लेडी-हॉस्पिटल में क्लर्क की जगह पा ली और किसी प्रकार जीविका का प्रश्न हल कर सन्तोष की साँस ले बैठी। अभी तक दिन-दिन भर की थकान और मानसिक संघर्षों ने उसकी जिन कोमल भावनाओं को दवा रक्खा था, अब निश्चिन्तता का अवकाश पा वे सजग हुईं। पति, पुत्र, गृहस्थी और सबके पीछे दुबके हुए विजय की स्मृति ने उसके मर्मस्थल को कुरेदना शुरू किया। पीड़ा की आँच से वह पिघल उठी। रात भर अपने आँसुओं से वह भीगी।

सुबह अपनी गठरी लेकर हॉस्पिटल के अन्दर वह दाखिल हो गई। पहिले तो नये काम को सँभालने में उसे कुछ असुविधा हुई, कुछ परेशानी अनुभव हुई, किन्तु अपनी प्रखर बुद्धि तथा उर्वर मस्तिष्क से उसने अच्छी तरह काम समझ लिया और निभाने लगी। सुबह से लेकर दोपहर तक हॉस्पिटल के बराण्डे में कुर्सी मेज़ लगाए वह मरीज़ों के नाम पते लिखा करती और देखा करती अनिमेष दृगों में व्यथा भरे—कराहते, अंग-भंग, पीले, काले, कुरूप, सूखे हुए विकृत रोगियों का जमघट। और उसके मन—प्राण में जैसे एक भयानक विरूपता, एक वीभत्स विरक्ति और एक हाहाकारमयी वेदना दौड़कर उसे निर्जीव सी बना देती। नित्य का यही नीरस सा कार्यक्रम। आठ बजे हॉस्पिटल

के बराण्डे में मेज़ कुर्सी पर स्थापित हो जाना और एक बजे क्वार्टर में लौट, नहा धोकर खाना खाना, पड़ रहना, वर्त्तमान में अतीत और भविष्य के चित्रों को रो रोकर घुला देना और फिर नींद की गोद से उठ, शाम को कहीं इधर-उधर उत्साहहीन गति से घूमने चल देना। और जीविका चलाने के लिए महीने के आरम्भ में उसे बारह रुपए मिल जाते हैं।

दो एक मित्र भी बन ही गई हैं माला के—जिन्हें उसके दग्ध जीवन से स्नेह-सहानुभूति है। आत्मीयता दिखला वे उसे आकृष्ट कर चुकी हैं। उनमें एक तो प्रौढ़ विधवा मिसेज़ पटेल हैं। वह उसी हॉस्पिटल में हेड नर्स के पद पर हैं। अपने एक अठारह वर्ष के पुत्र के साथ रह कर जीवनकाल यापन करती हैं। स्वभाव की सुन्दर और व्यवहार की अत्यन्त सरल हैं। माला उनके यहाँ कई बार जा चुकी है। बड़े स्नेह और सौम्यता से वह माला से पेश आती हैं। उसके जीवन के संघर्षमय उपकरणों को जानकर, उसके साहस और महत्वाकांक्षाओं की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करती हैं। स्थानीय निवासिनी हैं। माला को प्रायः बुला लेती हैं।

दूसरी है एक क्रिश्चियन मिस टामस—अपने वृद्ध माता-पिता की अकेली पुत्री—कम्पाउन्डर बनकर अपनी चंचल वृत्तियों का परिचय देती, सुन्दर शरीर के मोहक अंगों का परिचालन करती—मधुर वीणा की झंकार की तरह सुरीले स्वर से वह माला के कुशल समाचार अवश्य पूछ लेती। नित्य का उसका यह नियम बन गया था। माला की जीवन-घटनाओं को उत्सुकता के साथ सुन, अपने जीवन की प्रेम-कहानी भी उसने बड़ी मधुरता और रोचक ढंग से कहकर माला पर प्रकट कर दी थी, जिसे सामाजिक जीवन से कुचली हुई माला स्वयं अनुभव कर चुकी थी। आँखों में रहस्य का जादू और अधरों पर लाज भरी मुसकान लिए उच्छ्वास के साथ टामस कहती—"माला, मैं क्या करूँ........विलियम मुझे दिन-रात परेशान किए है........सुबह शाम टी के वक्त वह अनिवार्य रूप से उपस्थित हो जाता है। लाख बहाने करने पर भी सिनेमा गए बिना छुटकारा नहीं मिलता। उसके

आँसू मुझे चुम्बन-दान के लिए मजबूर कर देते हैं। कहता है विवाह कर लो नहीं मैं इस दुनिया में नहीं रह सकता, आत्मघात कर लूँगा।"

विवाह के लिए जिस माला का हृदय घृणा और विद्रोह से भर उठा था और विवाह के साथ समझौता कर लेने की जिसके मस्तिष्क में कोई रत्ती भर भी अब गुञ्जाइश नहीं रह गई थी, वही माला टामस को उपदेश देती, युक्ति बताती, तर्क पेश करती—टामस, पागल न बनो, रोमांस के पीछे अन्धी मत होओ। विवाह नारी के लिए मृत्यु है। पत्नीत्व अभिशाप है। अपने व्यक्तित्व की हत्या कर नारी रह जाती है केवल पशु—अथवा यन्त्र। पत्नी होकर वह मानवी नहीं रह जाती। मैं अपना भुक्तभोगी जीवन लिए प्रमाणस्वरूप तुम्हारे सामने हूँ। देखो, पढ़ लो, समझ लो—आर्थिक स्थितियों से दबी, पति के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व मिटाकर, नारीत्व का उपहास कर, मातृत्व को अपनाकर भी नारी क्या नारी ही रह सकेगी ? तुम अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता न खोओ और विवाह-बन्धन में बँधने से बची रहो। पुरुष का क्षणिक सहयोग ही व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त है। इस सहयोग के लिए जीवन भर को, पंख बाँधकर पुरुष और नारी का परस्पर विवशता ढोते रहना बिलकुल व्यर्थ है। कोई आवश्यकता नहीं है टामस, कि तुम अपने बच्चों के पालन-पोषण का भार विलियम को पिता बनाकर सौंप दो। मातृत्व धर्म का पालन तुम्हें स्वयं करना होगा। आया समझ में कुछ ....माला हँस पड़ती—कि विलियम ने पागल बना दिया है ? .."

टामस समझदारी की मुद्रा से मुस्कराते हुए सिर हिलाकर कहती—"हाँ ....कुछ आया तो जरूर........ठीक कहती हो माला ! तुम्हारे अनुभव की सत्यता से इनकार नहीं कर सकती।"

और तीसरी मित्र माला की थी डॉक्टर मिसेज़ बिड़ला। आयु की वसन्त ऋतु देख चुकी थीं, और अब पतझर के पीले पत्तों-सा यौवन झरता जा रहा था। उनके विषय में सुनने में आया था कि पहले वह जोशी जाति की माँ की लड़की थीं। किन्तु साल भर की

ही जब थीं जोशी पिता ने माँ को घर से किसी अपराध पर निकाल दिया और तब गोस्वामी पिता बने।

और आज वह स्वयं बिड़ला पति को पत्नी हैं। माला के ऊपर उनकी बड़ी कृपादृष्टि रहती है। उन्होंने ही हॉस्पिटल की नौकरी, रहने के लिये क्वार्टर माला को प्राप्त करवा दिया है। प्रायः अपने बँगले पर माला को वे बुलाती हैं। उसकी सन्तप्त कहानी सुनती हैं। उनकी सद्कामना है—माला अपने पूर्व-प्रेमी पर अपने घटना-वैचित्र्य को प्रकट कर दे। जीवनक्रम यों किस तरह चलता रहेगा विना एक साथी के? माला सब कुछ सुनती है किन्तु अभी वह दुनिया को, उसकी नग्न यथार्थता को, अपनी खुली आँखों द्वारा देख रही है। युग-युग की पड़ी पैर की बेड़ियों को तोड़कर—पुरुष के कठोर अधिकार-तले से सदर्प मुँह उठा, स्वच्छन्द आकाश, खुले मैदान और स्वस्थ वायु में आकर खड़ी हो गई है—तो सूर्य की चकाचौंध कर देनेवाली रोशनी में वह भली भाँति देख सकी है कि पुरुष ने नारी को कितने मनमाने अत्याचारों का क्रीड़ास्थल बना रक्खा है। आर्थिक स्वतन्त्रता को बरबस छीनकर मनुष्यता के अधिकारों को भी वह निगल गए हैं। लेकिन आज—आज तो उसने किन्हीं अंशों में आर्थिक परतन्त्रता का वह दुर्ग ढहा दिया है, समाज की शासन-व्यवस्था के बाहर हो गई है। आज मुक्त श्वास ले वह कुछ अपने विषय में, अपने स्वत्वों, इच्छाओं और जीवन की सफलताओं के विषय में सोचने के उपयुक्त स्थान, समय, मन और मस्तिष्क पाकर बैठी है।

हॉस्पिटल के दायरे के अन्दर आनेवाली रोगिणियों की काफ़ी तादाद से माला की मानवता परिचित हो चुकी है। और अब उसे उसकी छोटी-सी सीमित दुनिया में अकेलापन महसूस करने में बाधा आ पहुँचती है।

प्रायः माला अपनी साथिनों के साथ मनबहलाव के लिए सिनेमा-थियेटर भी हो आती है। सभा-सोसाइटियों में भी अपना समय खर्च करने में उसे आनन्द होता है। उसका काले मेघों से घिरे हुए आकाश की तरह जीवन बरसकर स्वच्छ सुन्दर निकल आया-सा

परिवर्तित हो गया था। किन्तु क्या उस निर्मुक्त, निरभ्र, स्वच्छ-सुन्दर आकाश में गीली छवि के बीच एक सतरंगे इन्द्र-धनुष की रेखा की आकांक्षा मनप्राण को लुब्ध नहीं बना देती ?

रात की स्याही गाढ़ी हो जाने पर आकाश के तारे किसी चिर गूढ़ हृदय की रहस्य की बात जब लिखने लगते, नीचे धरती थकी पड़ी चुपचाप विश्राम करती रहती, कोलाहल शान्त हो जाता, पेड़-पौधे नींद के नशे से झूम उठते, तब माला के चिर संतप्त हृदय की ज्वाला जाग पड़ती, अन्तस की मौन कसक फूटने-फूटने हो उठती, हवा के कोमल झकोरे का स्पर्श सपनों को उत्तेजना देने लगता—तब बन्द कमरे में, रात की निस्तब्धता में आँसुओं के उज्ज्वल सरोवर के बीच पलकों में कमल-सा तैर आता उसके विजय का मुख! माला की व्यथा पिघल पड़ती। नारी का कोमल हृत्पिण्ड डोलने लगता। पहले वह नारी थी फिर माता, और उसके बाद पैसों के जोर पर ज़िन्दगी ढोनेवाली क्लर्क। माला रोती....बिसूर-बिसूरकर—उसका नारी-रूप उसके ही हाथों कुचला जाने में असमर्थ हो जाता। नारीत्व की भूख विकृत हो उसे पागल बना देती। सुबह की उसकी सूजी-सूजी पलकों पर ऊषा की किरण लाली घोल देती। आँखें खोल दुनिया के सवेरे को माला देखती—विहगों के नन्हें कंठों का कलरव उसे उल्लास और शोभा में विभोर कर देता—और तब फिर वह पाती अपना आँगन एक भोले शिशु की मोहक क्रीड़ा से शून्य! अभाव उसके हृदय में फिर कुरेद उठते। तड़प उठता एकबारगी अपने 'नन्हा' के लिये उसका लुटा हुआ मातृत्व! पहले वह नारी थी, फिर माता, और उसके बाद पैसों के ज़ोर पर ज़िन्दगी ढोने वाली क्लर्क। और वह अपने लुटे हुए कोष में साहस, आत्मबल और कर्त्तव्य की निधियाँ बटोर हॉस्पिटल के लिए तैयार होने लगती। जीवन इसी प्रवाह में बह रहा था।

शीला का पति

हरीश ने कचहरी से आकर अपनी कमरा नामधारी कोठरी में घुस, कपड़े उतारना शुरू किया—हैट उतारकर खूटी पर रक्खी, शेरवानी उतारते ही पीछे पड़े पलँग की ओर गर्दन घुमाकर उसने देखा शीला एक करवट पड़ी, बाँह पर सिर डाले, हथेलियों से मुँह ढाँपे सिसक रही है। उसकी भँवों पर बल पड़े—मुद्रा पर झुँझलाहट अंकित हो गई। उसने फीके स्वर में भरसक कोमलता लाने की चेष्टा करते हुए पूछा—"क्यों कैसी तबियत है ?"

अब वह बैठ गया था उसी पलँग के एक कोने पर और धीरे-धीरे चूड़ीदार पायजामा उतारते उसे देखता जाता था।

सिसकियों में उलझे हुए स्वर में शीला ने धीमे से कहा—"मेरी तबियत बहुत घबराती है........" और इतना कहते ही उसके हृदय का रोदनोच्छ्वास फिर फूट पड़ा। आँसू पोंछते हुए वह भरे गले से केवल इतना ही कह पाई—"मुझे सब मिलकर परेशान करते हैं।"

एक ऊर्ध्व साँस ले हरीश ने माथे पर का पसीना पोंछा। और फिर सुराही से पानी ढालकर हाथ में लेते हुए प्रश्न किया—"क्या परेशान करते हैं।"

—"प्याज़ खा खा कर मेरे मुँह के पास आ, भाप छोड़ते हैं, मेरे उबकाई आती है..........." रुआँसे स्वर में कहती कहती शीला उठ बैठी।

हरीश के होठों पर ज़रा सी सूखी निर्जीव हँसी आई लेकिन फिर खिन्न होकर उसने कहा—"तुमने कुछ किया होगा ?"

उलाहने के स्वर को ज़रा तीव्र कर शीला बोली—"हाँ, घर भर यही कहता है, तुम भी यही कहोगे। सब को एक ओर से मुझमें बुराइयाँ ही दिखती हैं। मैं कहती हूँ बुरी हूँ तो क्यों नहीं उसी मायके में छोड़ आते ? पड़ी रहूँगी, झख मारकर दो रोटियाँ खिलाएँगे ही। मुझसे नहीं सहा जाता। एक तो मेरी यह हालत कि पानी तक हज़म

नहीं होता, जहाँ कुल्ला भर पानी गले के नीचे गया नहीं कि उलटी हो गई। चक्कर पर चक्कर अलग आते हैं। अनाज की बू से उबकाई छूटती है। ज़रा सा फ़ालसा खाने को तबियत चाहती है तो किससे मँगाऊँ? कोई अपना नहीं है इस घर में, जो मेरा दुख दर्द सुने.... ..." शीला का अश्रु-रुद्ध-स्वर कम्पित हो उठा, कि बीच में ही चिढ़कर हरीश बोल उठा—"तो रमेश से क्यों नहीं मँगवा लेतीं? ग़ुस्से से तो काम नहीं चलता। अपना काम निकालना है तो किसी से भी ख़ुशामद से निकाल सकती हो। घर में चार-चार देवर हैं, चार-चार ननदें हैं, सास-ससुर लेकिन तुम्हारे लिए अपना कोई नहीं।"

—"जब वही लोग दूर-दूर किए रहती हैं तो मैं क्या करूँ? मुझसे रोटी नहीं बनायी जाती। इस हालत में अनाज की बू से मिचली छूटती है और वह लोग चाहती हैं कि सारे घर भर की मैं रोटी पकाऊँ, तब वह लोग ख़ुश रहें। आज पड़ोस की चाची आई थीं—अम्मा जी ने गढ़ गढ़ कर शिकायतें कीं—"दिन रात रानी जी कोठे पर चढ़ी रहती हैं। अनोखे उन्हीं के पेट में बच्चा है? उसी मदुआ को दिखाने के लिए सत्तर नख़रे हैं। नई नई वकालत चमकी है न! हमें तो दस पन्द्रह रुपये से ज़्यादा कभी बताता ही नहीं। इसी दिन के लिए हरीश को वकालत पास करवाया था, महीने में पाँच सात रुपल्ली मेरे आगे फेंककर सब उसी मेहरिया के घुसेड़ता जाए!"

स्पीड धीमी होने का आसार नज़र न आते देखकर ऊबकर हरीश ने झुँझलाहट भरे स्वर से कहा—"बस बहुत हो चुका, अब चुप रहो! मैं सब जानता हूँ। जो कुछ होता है उसे सहन करो, तुम चुप रहो कुछ बोलो न, देखो अम्मा कैसे कुछ कहती हैं। मगर तुम्हारे पास सब्र नाम की कोई चीज़ हो तब न?"

—"तो मैं क्या कहती हूँ? तुमसे भी कुछ कहना पाप है तो न कहूँगी......फिर क्षण भर चुप रहकर शीला ने घुटने से लगा सिर उठाकर शून्य आँखों से देखते हुए कहा—तुमने क्या ख़ाली पानी पी लिया? लाओ वह मथानी मुझे दे दो, इधर अलमारी में दही रक्खा है, तुम्हारे लिए लस्सी बना दू। तुम्हारी ही परवाह कौन करता है?

खाने की थाली परोसकर रात को नीचे से ले आते हो, तो खा भी लेते हो। आज मैं थाली लेकर नीचे महरी को माँजने को नहीं दे आई तो देखो न, थाली पड़ी हुई है छत पर—"

हरीश किसी समस्या के समाधान में निमग्नसा हो गया था—"न, मैं लस्सी न पीऊँगा"—कहकर वह पलँग पर एक ओर लेट रहा। शीला ने पंखा उठाकर धीरे-धीरे डुलाना शुरू किया। दोनों मौन थे। किन्तु दोनों की मौनता के पीछे विचार-मन्थन का नाटक सफलतापूर्वक खेला जा रहा था।

छत पर की कमरा नामधारी नीची छोटी कोठरी इस समय तीसरे पहर की चिलचिलाती धूप सीधे पड़ने की वजह से तपकर भट्टी की तरह जल रही थी और रोशनदान की खिड़की से गुर्राते हुये झुलसानेवाली लू के झोंके घुसे पड़ते थे। पसीने से तर हरीश ने एक ऊर्ध्व साँस छोड़कर कहा—"बड़ी सख्त गर्मी पड़ रही है। किसी तरह नींद नहीं आती। सोचा था एक नींद लेकर ऊब जाऊँगा।" उसने उठकर छोटी मेज़ पर रक्खी रिस्टवाच देखी—५ बजने में ५ मिनट बाक़ी थे, लेकिन तब भी तेज़ धूप और गर्म लू के झोंके अपनी शरारत से बाज़ नहीं आ रहे थे। हरीश लेटते हुये बोला—"ओफ़ओह! ५ बजने को हैं और ऐसा अन्धड़ चल रहा है! अभी तो नहाने की भी हिम्मत नहीं पड़ती। फिर कुछ ठहरकर शीला के चेहरे की ओर देखते हुये समवेदना के भाव से बोला—"अच्छा तो तुम क्या खाओगी? उसका मैं प्रबन्ध करूँ? बोलो!"—हरीश के अन्तर को स्नेह-भावना करुणा-स्पर्श दे गई। उसने शीला का हाथ अपने हाथ में ले कोमल स्वर से कहा—"बोलो न जल्दी। तुम कुछ खाया पिया करो नहीं तो और कमज़ोर हो जाओगी।"

मानव प्रकृति का सुलभ गुण है कि सहानुभूति पाकर वह उमड़ आना चाहता है। मोह ममता के छू जाने पर हृदय भारोन्मुक्त हो जाना चाहने लगता है।

हरीश का इतना सा प्यार ही शीला की आँखों को सजल कर देने को पर्याप्त था। डबडबाई आँखों से पलकें नत कर उसने सानु-

रोध कहा—"कल मुझे अस्पताल की मेम साहब को दिखा दो। पानी की शिकायत है, उसकी दवा करूँगी। कमज़ोरी बढ़ती जाती है।"

—"बहुत अच्छा, कल चली जाना। यहाँ से महरी को साथ लेकर अस्पताल आ जाना। वहाँ फिर मैं मिल जाऊँगा, समझीं।"

शीला पंखा डुलाती जा रही थी। हरीश ने स्नेह से कहा—"रख दो पंखा, गर्म हवा निकलती है। लेट रहो। तुम्हें बैठने से तकलीफ़ होती होगी।"

शीला निर्विरोध उसकी बग़ल में लुढ़क रही, संकुचित होकर। निश्चेष्ट पड़े उसके कृश शरीर में कोई स्फूर्ति नहीं, ठंडे पड़े हृदय में कोई आवेश नहीं। उसके शिथिल शरीर-स्पर्श से हरीश एक ठंडी दबी श्वास ले उठा।

भारी और सूखा सा मन लिए उसने एक निर्मम अँगड़ाई ली, और फिर चुपचाप आँख मूँदकर पड़ रहा—उसका जी चाहा, करवट बदलकर मुक्त श्वास छोड़ सो रहे। किन्तु शीला का रुद्ध सामीप्य, उसके कोमल नारी-हृदय पर आघात के विचार ने उसे ऐसा न करने दिया।

नित्य दस बजे रात को हरीश अपने दोस्त कहिये या कृपालु बुज़ुर्ग अम्बिकाप्रसाद ऐडवोकेट के यहाँ से बैठकबाज़ी करके लौटता था। किसी-किसी दिन क्लब में ही देर हो जाती तो फिर ऐडवोकेट साहब के यहाँ से लौटने में ग्यारह-साढ़े ग्यारह हो जाता। आज जब वह लौटा दस बज चुके थे। रास्ते में परिचित कुँजड़े ने थोड़े से अच्छे ख़रबूज़े बाँध दिये, बोला—"बाबूजी, लखनऊ से मँगाये हैं।" हरीश से 'नहीं' न करते बना। घर आया तो दरवाजे बन्द हो चुके थे। आधे घंटे तक चिल्लाता रहा लेकिन घर में सब निद्रामग्न। बड़ी मुसीबत में पड़ा। कोट उतार बाहर पड़े तख़्त पर लेट रहा। लेकिन पुकार मचाना न छोड़ा—कई आवाज़ों के बाद पीछे की छत से आवाज आई। विनोदिनी की नींद खुल गई थी उसने पड़े-पड़े ही पुकारा—"भाभी, दद्दा आये हैं जाकर किवाड़े खोल आओ!"

भाभी की पहली नींद थी, झटके से उठकर वह नीचे गई—

किवाड़ खोले। हरीश ने उठकर कोट कन्धे पर डाला, खरबूजों की पोटली शीला के हाथों में थमाकर किवाड़ बन्द करता हुआ अन्दर चला। जीने से चढ़ पीछे की छत पर जाते हुए बीच में ही लेटी हुई विनोदिनी की तीक्ष्ण दृष्टि से शीला के हाथ में थमी पोटली छिपी न रह सकी।

हरीश ने टीन के नीचे से छज्जे पर चारपाई निकाली। कपड़े उतार लुंगी और बनयान पहनी, मुँह हाथ धोया, शीला से कहा—"एक आधी फाँक खरबूज़े की खाओगी?" शीला ने खरबूज़ों को पानी में डालते सिर हिलाकर इनकार कर दिया। हरीश ने एक फाँक काटकर ज़बरदस्ती उसे खिला दिया, फिर स्वयं नीचे चौके में जाकर अपनी खाने की थाली उठा लाया। शीला अस्तव्यस्त पड़ी पंखा डुला रही थी। हरीश ने खा पीकर गिलौरीदान से एक बीड़ा पान ले लिया, और चारपाई पर लेट रहा। सिगरेट आदि की उसे आदत नहीं। आधुनिक सभ्यता का वह पुजारी नहीं है। हाँ मित्रमण्डली या सभा सोसाइटी में वह सब का साथ निभा लेता है। उसे न विशेष कोई रुचि है न ऐसी कोई वस्तु अग्राह्य ही। किसी भी लत का वह भक्त नहीं। निस्पृहता उसका प्रमुख गुण है। धैर्य्य का उसमें शान्त सागर है।

× × ×

सुबह मा बेटी रात की बात को लेकर घर भर में तहलका मचा रही थीं। अरे, बाप रे! घोर कलजुग! रानी साहिबा के पेट में बच्चा है तो अन्न नहीं छूतीं—रात-रात को गठरी भर-भर फल आते हैं!

शीला सुन-सुनकर रो रही थी। उसके एक साल भर का होकर और दूसरा ६ महीने का, दो लड़के मर चुके थे। उसकी छाती का घाव फिर हरा हो उठा—रोते-रोते उसने कचहरी जाते हुए पति से अधीर होकर कहा—"सुना तुमने! रात के खरबूज़ों की क्या आफ़त मच रही है? मेरे दोनों बच्चों की जान गई इन्हीं लोगों के पीछे—हाय, सर्दी में भीगभीगकर मैंने काम किया, बच्चों की परवा न की। मेरे लाल खो गये! किसी का क्या गया? मगर तुम हो कि जन्म भर भोले ही बने रहोगे? न मुझे लेकर अलग रहोगे, न मायके भेजोगे!

आज को मेरा 'प्रकाश' होता तो बाजार से सौदा लाने लायक़ हो जाता। हाय! मेरी जान लेने पर सब तुले बैठे हैं! मुझे भेज दो न, फिर बुला लेना!"

हरीश ने सब सुना, और सहिष्णुता से सब पी गया। वह विवाद बढ़ाना नहीं चाहता था। गम्भीर हो बोला—"अच्छा चली जाना!"

—"मुझे लेडी डॉक्टर ने जो गोलियाँ लिख दी थीं वह ला दो न!" शीला ने कुछ स्वस्थ होकर कहा।

—"अब तो मायके जा ही रही हो, वहीं जाकर अपने भैय्या से मँगा लेना"—लापरवाही से मुस्कराकर हरीश ने कह दिया और जूते चर्मर् करता नीचे उतर गया।

शीला दिन भर कोठरी में पड़ी रही। एक-आधी फाँकें खरबूजे की चखीं, फिर क़ै की, और चुपचाप ज़रा-सी पेपरमिन्ट मुँह में डाल पड़ रही। हवा आने के लिए किवाड़ उसने खुले छोड़ दिये। इधर उसकी आँखें झपकीं कि उधर, जाने किस वक़्त, चारों देवर-ननदें आकर स्थापित होगईं। अब लगा ऊधम मचने। शीला के सिर में ज़ोरों का दर्द था, उसने अपनी आँखें बन्द कीं, हथेलियों से माथा कसकर दबा लिया और चुपचाप सोने का उपक्रम किया। मगर इधर महाभारत छिड़ गया। रमेश ने सुरेश के हाथ से हरीश की टेबुल पर पड़ी हुई मैगज़ीन तस्वीरें देखने के लिये छीन ली। सुरेश के गालों पर कसकर चपत लगाई, और उसने जो सुरेश के गालों पर अपने बढ़े हुए नाखूनों से भरपूर चिकोटी ली तो 'पें' 'पें', का नारा बुलन्द हो गया। उधर सरोजिनी ने चुपके से "आमला हेयर आयल" की शीशी आलमारी पर से उतार ली और टेबुल पर रक्खे शीशे में मुँह देख-देख लगी बालों को नहलाने! वह जब अपने इस कार्य में व्यस्त थी, सबसे छोटी मोहिनी घड़ौंची पर धरी सुराही से शीशे के गिलास में पानी ढालने के प्रयत्न में असफल हो, शीशे का गिलास पैरों पर चूर-चूर पड़ा देख, और पैर से खून छलछलाता देख 'आय हाय रे!" कहकर चिल्ला पड़ी। अब उस छोटे से कमरे में घमासान युद्ध जारी हो गया! इन लोगों की नित की ऊधम से परिचित होने के कारण

पहले तो शीला कुछ न बोली। आँखें बन्द किये चुप पड़ी रही, क्योंकि जानती थी कुछ भी बोल देने से दूने वेग से संग्राम मचेगा, किन्तु जब मोहिनी ने अपनी सुरीली आवाज़ को पंचम पर पहुँचाया, साथ ही किसी चीज के टूटने की आवाज कानों में पड़ी, तो उसने समझा कुछ अनर्थ हो गया। उठकर देखा तो—रमेश सुरेश को पट किये उसकी छाती पर चढ़ा बाल नोचे ले रहा है, और वह—"अरे साले, ठहर, बताता हूँ अभी तुझे"—हाँफते हुए कहकर अपने समस्त बल का प्रयोग कर छूटने की कोशिश में जी जान से लगा हुआ है, और उधर टेबिल पर 'आमला हेयर आयल' का दरिया बह रहा है। घड़ौंची के पास मोहिनी देवी शीशे के गिलास का जीवन समाप्त किये अपना लहूलुहान पैर पकड़े सप्तम स्वर निकाल रही हैं।

शीला एकदम क्रोधाग्नि से भभक पड़ी—"तुम लोग यहाँ क्यों आ धमकते हो ? मेरी जान खा लो दुष्टो ! ज़रा-सी हवा आने के लिए किवाड़ खोल रक्खे थे कि चंडाल-चौकड़ी जमा हो गई। फाड़ डाली मैगज़ीन, तोड़ डाला गिलास, स्वाहा कर दी तेल की शीशी ! तुम लोग लड़के नहीं हो, सत्यनाशी !"—दाँत पीसकर उसने रमेश को नीचे ढकेला, सरोजिनी के झोंटे घसीटे, मोहिनी की बाँह पकड़ बाहर कर दिया—"जा, अपनी सगी के पास दिखा जाकर—तुम्हारी यह करतूतें कोई देखता नहीं, बदनाम मैं हूँ। अरे, निकलो दुष्टो यहाँ से"—कहकर उसने किवाड़ के पल्ले पकड़ लिये। उसका रुद्र रूप देख सभी चुपचाप खिसक पड़े। धम्म से किवाड़ बन्द कर बड़बड़ाती हुई फ़र्श पर बैठकर गिलास के टुकड़े बीनने लगी। फ़र्श धो-पोंछ, मेज़ पर का मेज़पोश बदल, तेल की खाली शीशी उठा, मैगज़ीन के पन्ने बटोर, खीझ और झुँझलाहट से भरी वह रो पड़ी। अशान्त मस्तिष्क विकृत हो उठा। जब मनुष्य को कहीं शान्ति नहीं मिलती और तन मन भी अस्वस्थ होता है, तो निरुपाय रोदन की दुर्बलता ही मात्र सहारा पा उभर आती है। जैसे सूखा पत्ता वायु के तनिक कठोर स्पर्श से ही खड़खड़ा उठता है। शीला सूने में ऊपर की गर्मी और अन्दर की खीझ की तपन से जल-जलकर खूब रोई। जी कुछ हल्का

हुआ तो उठकर पानी पी, मन बहलाने को खिड़की खोल खरबूजे के बीज छीलने बैठ गई। अक्षर-ज्ञान उसका त्रुटियों-पूर्ण पत्र लिखने तक ही सीमित था। पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में 'कजरी नौबहार' और 'होली का हुरदंग' ही उसने पढ़ा था। हिन्दी शिक्षावली की कहानियाँ ही उसके साहित्य के शिखर तक चढ़ पाई थीं। यही घर के धन्धे, रोटी-पानी और सिलाई-बुनाई के गृहलक्ष्मीत्व में ही उसका सीमित क्षेत्र था और उतना ही सीमित ज्ञान! अवकाश का समय व्यर्थ ही पड़े-पड़े आलस्य से करवटें बदलने या प्रपंच में ही बीतता था।

तीन बजे कचहरी से लौटकर आया हरीश। आज उसने घर के वातावरण में काफ़ी गर्मी पाई। मा के माथे पर तीन वक्र रेखाएँ, भँवों पर बल पड़े, रोषपूर्ण मुद्रा। देखते ही गुस्से में भरी उपालम्भ का स्वर ऊँचा कर बोलीं—"देखती हूँ हरी, अब बसर नहीं होने का। तू तो कुछ बोलता नहीं, तेरी दुलहिन आसमान पर चढ़ी जाती है। ज़रा-ज़रा से बच्चों को पीटकर रख दिया। मैं कहती हूँ वह आदमी है या पत्थर? मोहिनी के शीशा लग गया तो उसने ढकेल बाहर कर दिया। ओफ़ओह! बच्चों का तनिक मोह नहीं? ऐसी न होती तो भगवान् बच्चे दे-देकर क्यों छीन लेता?"—यह हरीश के मर्मस्थल पर कठिन आघात था। उसने इस मर्मभेदी व्यंग्य को सहिष्णुता से सह लिया, एक हलकी निःश्वास लेकर गम्भीरता से उत्तर दिया—"भई, यह रोज़-रोज़ के झगड़े मैं नहीं जानता कुछ, अम्मा, तुम जानो वह जानें।" और वह खट खट सीढ़ियाँ चढ़ गया।

वही दैनिक कार्यक्रम। कपड़े बदले, नित्यप्रति की अभ्यस्त वाणी का प्रयोग किया—"कैसा जी है? कुछ खाया कि नहीं?" और ज़रा लेटकर अख़बार उलटा-पलटा, फिर कोई शेर या गीत की कड़ी गुनगुनाता हुआ नहाने चला। शीला अन्यमनस्क बैठी रही। बोली नहीं। सोचा, जब कोई प्रश्न होगा उत्तर दे देगी। यद्यपि वह नीचे के कुहराम को सुन चुकी थी।

बालों में कंघी डालते-डालते सामने तेल की शीशी ख़ाली देख

आश्चर्य से हरीश ने पूछा—"अयँ, यह परसों ही तो लाकर रक्खी थी, इतनी जल्दी खत्म हो गई?"

क्रोध के बादल मँडरा ही रहे थे, अनुकूल हवा का झकोरा पाते ही बरस पड़े। शीला शुरू से आखीर तक पूरा क़िस्सा सुना गई।

—"अच्छा, वही अम्मा जी मेरे कचहरी से आते ही बड़बड़ा रही थीं, अब मालूम हुआ"—उसी लापरवाही और मृदुमुस्कान के साथ धीमे से कहकर हरीश क्लब के लिये तैयार हो गया।

× × ×

दोपहर को हरीश से छोटा भाई गिरीश अपनी बड़ी बहिन कमलिनी को लखनऊ से लिवा लाया। कमलिनी के छोटे लड़के को चेचक निकल आई थीं, अभी दाने सूख भी न पाए थे कि शुक्र उदय होने को आया। और कमलिनी शुक्र डूबे ही अपने ससुर की बीमारी का तार पाकर चली गई थी ससुराल—तो शुक्र उदय होने के पहले ही उसका मायके आ जाना ज़रूरी था। अच्छी दिन साइत पूछकर वह शुभ घड़ी में फिर ससुराल जाएगी। इसलिए आ गई।

संयोग की बात, गिरीश को देखने उसके विवाह के लिए कुछ लोग उसी दिन संध्या समय आ गए। गिरीश फ़र्स्ट ईयर में था। अभी उसकी इच्छा विवाह की न थी। किन्तु पिता पेंशनयाफ़्ता हो चुके थे। बड़े बेटे हरीश का ब्याह कर ईप्सित वस्तु नहीं पा सके, हरीश की ससुराल में न पर्याप्त धन मिला, न बहू ही सर्वगुण सम्पन्न मिली। मन की साध मन में ही रह गई। कहीं बाहर से आने पर सेवा को तत्पर रहनेवाली बहू की महत्वाकांक्षा पूरी न होने पर, गिरीश के विवाह के लिए वह जल्दी कर रहे थे क्योंकि वृद्धत्व का सामना था। हरीश की माँ ने भी कहा—"हर्ज क्या है, गिरीश की शादी तो पहले होनी ही चाहिये फिर विनोदिनी के लिये सुविधा हो जायगी।" ब्याह का सौदा खूब पटाया गया। किन्तु लड़कीवाले निर्धन थे। और हरीश के पिताजी कच्ची गोलियाँ खेलने से रहे। आखिर झक मार वे लोग चले गए।

रात को कमेटी बैठी। कमलिनी, विनोदिनी, सरोजिनी, मोहिनी, माँ, बाबूजी, गिरीश, सुरेश, रमेश पूरा क़ुनबा खा-पीकर डट गया।

केवल हरीश अपनी नित्य की दिनचर्या के अनुसार क्लब से लौटकर एडवोकेट साहब के यहाँ था, और शीला अपनी तपी टीन के नीचे।

हरीश की माँ शीला को सुना-सुनाकर बोलने लगी—"अरे, मैं हरीश के ब्याह में चूक गई तो क्या गिरीश को थोड़े ही मँड़ने दूँगी? मैंने तो साफ़ कह दिया लड़की देखकर करूँगी। देनी-लेनी कुछ भी न हो चाहे, लड़की हुनरदार और रूपरंग की चाहिए। एक तो चौपट बैठाल दी है लाकर—कहाँ मेरा सोने-सा हरीश, कहाँ उसके मुँह को यह गोबर का छोत। कर्म फूट गये।" बड़े दम्भ से कमलिनी ने ऐंठते हुए कहा—"अरे अम्माजी, हमीं लोगों को देखो इतना रूप गुण लेकर गईं तिस पर कितना पूजना पड़ा?"

विनोदिनी ने व्यंग्य छोड़ा—"महारानीजी को बड़ा गुमान है भाई, कहती हैं इस घर के लायक़ न थी मैं। अरे हमारे दद्दा सीधे हैं नहीं इनके मिज़ाज ठीक हो जाते!"

छोटे-छोटों ने रद्दा जमाया—"अम्मा, गिरी दद्दा का ब्याह ऐसा न करना। इन भाभी-जैसी हमारी दूसरी भाभी न आवें।"

गिरीश ठट्ठा मारकर हँस पड़ा—कमलिनी को सम्बोधन कर बोला—"जिज्जी, कुछ पूछो न, मैंने तो ऐसा जीव ही नहीं देखा। कभी हँसी मज़ाक़ तो दूर रहा, ऐसी हैं कि बात भी चिड़चिड़ा कर ही करती हैं।"

बाबूजी ने एक ठंडी साँस खींचकर लेटे-लेटे ही कहा—"अरे भइया, तक़दीर की बात है। क़िस्मत से ही अच्छा आदमी मिलता है। रुपया पैसा क्या चीज़ है। यह तो कहो हरीश लायक़ लड़का है, नहीं इस तरह निबाह ही न होता। और वह असल में चाहती भी यही है। कमीने घर की लड़की भी लाना फ़जीहत ही होती है।"

बड़ी रात गए कमेटी ख़त्म हुई।

सुबह कमलिनी अपने लड़के को लेकर ऊपर आईं, बोलीं—"भाभी, लो ज़रा चिरौंजी पीसकर लल्ला को उबटन तो लगा दो। मैं जा रही हूँ जल्दी से लस्मी बना दूँ, गिरीश कानपुर जा रहा है।"

लड़के को फुड़ियाँ देख शीला एक बार घिन से भर गई। लेकिन चुपचाप उसने उबटन पीसकर लगा दिया। उसे सुलाने के लिये गद्दी

तो दे न गई थीं। लाचार अपने बिछौने पर सुला-वुलाकर नहाने चली। अलगनी पर से धोती उतारने चली, तो धोती ही नदारद। इधर-उधर देखा तो गुसलखाने में एक किनारे बेसन भरी पड़ी थी। विनोदिनी अभी-अभी नहाकर निकली तुलसी की पूजा कर रही थी। उन्होंने ही बालों को बेसन से धोया था। होंठ काटकर शीला रह गई। मारे क्रोध के उसके आँसू आ गए। निर्बलता से चक्कर आते ही थे। सिर थामकर गुसलखाने की देहरी पर ही बैठ गई। गर्मी से उसका जी मिचली कर रहा था। तनिक साहस बटोरकर वह उठी—मुँडेर के पास जा, नीचे झुक पुकारा—"बीबीजी, अम्माजी से कह दो एक धोती दे दें। मेरी धोती पहनकर आप सिर मल गई हैं। मेरे पास और धोतियाँ नहीं, सब धुलने गईं।" एक साँस में ही वह जल्दी से इतना सब कह गई, क्योंकि अनपेक्षित उत्तर की ही उसे प्रत्याशा थी। बदले में कटु बाणों को पीने के लिये वह तैय्यार रहे, सिवा इसके और कोई अभियोग न था उसके पास।

विनोदिनी पूजा समाप्त कर नीचे जा, ककड़ी छील रही थी।

एक टुकड़ा मुँह में रख, होठ टेढ़ाकर कठोर स्वर से बोली—"हाँ मैंने पहन ली तो, फिर ऐसे ही जुदाबाँटी करना है तो क्यों एक में रहती हो? मैं न जानती थी कि एक धोती तुम्हारी कभी पहन लूँगी तो तुम्हारे टोटा पड़ जायेगा। अम्माजी के पास कहाँ हैं धोतियाँ, एक पुरानी फटी थी सो तो मैंने सिलकर सुबह पहिनने को उन्हें दी। निकालो न वकीलन साहबा, मायके की नहीं हं तो वकील साहब की कमाई के जोड़े कहाँ गए?" और वह एक क्रूर कुटिल हँसी की मुद्रा से तरकारी कतरने लगी।

जल-भुनकर छनछनाती हुई शीला बोल उठी—देर नहीं है। जहाँ जाइएगा वहाँ कमाई बटोर रखिएगा तब पता लगेगा। दूसरों को ताना मारना सभी जानते हैं।

अब तो तूफ़ान बरपा हो गया। अम्माजी, कमलिनी, विनोदिनी सभी ने चुन-चुनकर मर्मभेदी बाणों का प्रयोग किया। घर भर में वेद-पाठ प्रारम्भ हो गया। शुभ मन्त्रोच्चारण मुक्त कंठ से होने लगा।

अगले सप्ताह ही एक दिन सबेरे शीला के भाई मनोहर बाबू झाबों में फल-मिठाइयाँ, शीला की सास ननदों के लिये जोड़े वग़ैरह लेकर शीला को विदा कराने आ गये।

मन में प्रसन्न, ऊपर से भृकुटी चढ़ाये, झनकती पटकती हरीश की अम्माजी ने सामान रक्खा, होंठ विचकाकर बोलीं—"सावन तक चली जाती अभी से क्या जल्दी थी। ख़ैर आ गये हैं तो भेज दो।"

हरीश ने अपने कमरे में जा कहा—"लो तुम्हारी मुराद पूरी हुई—मनोहर बाबू आ गये।"

किंचित् फीकी मुस्कराहट होठों पर ज़बरदस्ती खींच शीला ने उत्तर दिया—"भला ऐसा भी हो सकता है मैं लिख दूँ और कोई आये न ?"—फिर सूखे मुँह से बोली—"चलो रोज़-रोज़ की किचकिच से जान छूटी। अब किस गाड़ी से भेजोगे ? मेरे पास धोतियाँ नहीं हैं। गद्दा बिछाती हूँ ऐसी गर्मी में, एक दरी तो ले दो। वहाँ जाने पर अच्छा नहीं लगता ऐसे !"

हरीश ने टाला—"अरे अब वहीं ले लेना। रुपये दे दूँगा। लेकिन समझ-बूझकर ख़र्च करना।"

एक लम्बी साँस ले शीला ने कहा—"हाँ, दवा की गोलियाँ भी न लाए ! तुम तो मुझसे किसी तरह पीछा छुड़ाना चाहते हो। तुम्हें मेरी कौन परवाह ?"

फिर वही नयनों की सजलता, वाणी की तरलता और हृदय की व्याकुलता बढ़ी।

कठिनाई से हरीश ने दस रुपये निकालकर दिए। दो बजे की गाड़ी से जाना निश्चित हुआ। शीला ने असबाब बाँध-बूँध, नीचे उतर सास ननद के पैर छुये। आशीर्वाद स्वरूप क्रूर दृष्टियों की ज्वाला ले इक्के में जाकर बैठ गई। मनोहर बाबू ने असबाब सँभाला। स्टेशन तक हरीश पहुँचाने गया। चादर में लिपटी शीला ने छिपी-दबी एक हसरत-भरी दृष्टि से हरीश को भरपूर देख लिया, और गाड़ी में जाकर बैठ गई। उसकी आँखें छलछला आईं। मनोहर बाबू नीचे उतरकर कुलियों को पैसे देने लगे। हरीश डिब्बे में शीला के पास ही खड़ा

था। शीला ने आँखें पोंछते कहा—"अपनी लापरवाही मत करना। वक़्त पर खा-पी लिया करना, और चिट्ठी लिखना न भू...ल..."

गाड़ी ने सीटी दी। मनोहर बाबू चढ़ आये। हरीश उतर गया। गाड़ी खिसक पड़ी, शीला की आँखों की बूँदें टपक पड़ीं और हरीश पीछे घूम पड़ा था।

दूसरे दिन चिट्ठी आई। हरीश के साले ने लिखा था—'शीला को चेचक निकल आई' हरीश ने पढ़ा, एक हलकी साँस लेकर चल दिया घूमने।

× × ×

—"कब से बुलवा रहा था तुम्हें !"—उलाहने की क्षीण आवाज़ में मोहन ने कहा।

उसी के पलँग के पास कुरसी घसीटकर बैठते हुए हरीश ने कहा—"छुट्टी नहीं मिली भाई! लेकिन नहीं मालूम था तुम्हारी यह हालत हो गई है! क्या फ़ीवर नहीं उतरता ?"

कराहकर मोहन ने उत्तर दिया—"फ़ीवर की बात मत करो हरी, ज़रा जी बहलाओ। जीवन की व्यस्तता से ऊब उठा हूँ!"

हरीश ने एक लम्बी साँस खींच ली।

मोहन ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"राजेश्वरी के लड़की हुई है। कल उसकी छठी होगी। भउजी अयोध्या जाने को तैयार बैठी हैं, कहती हैं अबकी झूला वहीं का देखेंगी और सावन के व्रत रक्खेंगी, अब तीर्थ व्रत के सिवा वैधव्य में उन्हें करना क्या है? और माताजी की साँस उखड़ी है, दमा पुराना हुआ। मन्नू की ट्यूशन भी छूट गई, उसकी फ़ीस देनी है। और मैं यह खाट पर पड़ा हूँ, महीने भर से ज़्यादा हुआ। बोलो न क्या करूँ ? तुम भी आकर फ़ीवर की बात करने लगे? हरी, जी चाहता है हरी, गला घोट लूँ... ...उफ़!" मोहन ने आँखें बन्द कर लीं और छटपटाने लगा।

हरीश के भी मनुष्य का हृदय था। मित्र की व्यथा से आँखें गीली हो ही आईं। धीरज देने के अभिप्राय से बोला—"घबराते क्यों हो मोहन! सब ठीक हो जायगा। ईश्वर का भरोसा रक्खो।"

—"ईश्वर का नाम मत लो हरी, वह न स्वयं खाता है न खाने को देता है! उसका कैसा भरोसा? मुझे किसी तरह पैरों के बल खड़ा कर दो, मैं कुलीगीरी करूँगा।" मोहन की आँखें निकली आती थीं, शरीर काँप रहा था।

"उफ़!" माथे को पकड़ हरीश ने निःश्वास खींची—"मेरे पास भी जो कुछ था शीला को देकर भेज चुका। उसके पेट में बच्चा और कल ही तो चिट्ठी आई है उसके चेचक निकल आई। न जा सकता हूँ, न कुछ कर सकता हूँ। और अब सबसे पहले तो तुम्हारी मुसीबत में काम आना है!"

—'आह! भैय्या!! जाने दो! एक कहानी '......' में भेजी है। शायद रुपया मिल जाए। कुछ काम चलेगा। फिर उठ खड़ा हूँगा तब कुछ न कुछ तो करूँगा ही......" उसकी आवाज़ में जान नहीं थी।

सहसा पोस्टमैन ने आकर शाम की डाक मेज़ पर रख दी। दो-तीन पत्र थे, एक उसी '......' कार्यालय से लौटी हुई कहानी का पैकेट! कहानी के साथ नत्थी पत्र में लिखा था—"आपकी इच्छानुसार पारिश्रमिक देने में असमर्थ हैं। आज्ञानुसार कहानी सेवा में वापस भेज रहे हैं!"

मोहन चेतनाशून्य-सा पड़ा रहा। चिराग़ जल गए। मोहन के छोटे-से कमरे में भी एक दिया टिमटिमा उठा। मोहन की भौजी ने आकर उसे तुलसी की पत्ती का काढ़ा पिलाया। और तब सकते-की-सी हालत में हरीश अपने घर को वापस लौटा।

आज वह क्लब नहीं जा सका। एडवोकेट साहब के यहाँ नहीं जा सका। उसके अन्तर में एक आग धधक उठी थी। वह सीधा घर आया। घर में वही चखचख मची थी। कमलिनी के लड़के को बुखार चढ़ आया, विनोदिनी की आँखें उठ आई थीं, सुरेश जीने पर से गिर हाथ तोड़ बैठा था। और बाबू जी को तो वही नित्य की बीमारी गठिया का दर्द उभरता ही है! अम्मा जी रोटी बनाकर निकली थीं—मोहिनी भूखी सो गई थी उसे जगाकर खिलाये बिना उन्हें चैन कहाँ? जगाती जातीं बड़बड़ाती जातीं—"कम्बख़्तों को सात नहीं है। सरे शाम से ही

सो रहती हैं। कहाँ तक इन लोगों के पीछे जान दूँ ? कौन कमाई खिला देगी ?" बाबू जी गिरीश को कराहते हुए डाँट रहे थे—"ताश खेलने के लिए निकल जाते हो, क्यों ? यह नहीं कि रमेश सुरेश को पढ़ावें बैठकर ! चालीस रुपये मेरी पेंशन के, कहाँ से मास्टर लगे, कहाँ से क्या हो ? अभी शादी करने को तीन-तीन लड़कियाँ बैठी हैं। मेरा यह हाल है, ...जिस....दि...न...भी...लु...ढ़...क...जा...ऊँ....!"

हरीश चुपके से ऊपर निकल गया। कपड़े उतारकर खाट पर पड़ गया—बेचैनी से करवट बदलता रहा—किसी तरह मस्तिष्क में शान्ति न आती थी उठकर उसने छोटा लैम्प जलाया। एक अंग्रेजी की मैग-जीन उठाई उलट-पुलट रख दी। पानी पीना चाहा, सुराही खाली पड़ी थी। पान की इच्छा हुई गिलौरीदान सूखा पड़ा था। आज सर्व-प्रथम उसकी प्रबल इच्छा हुई कि वह एक सिगरेट जलाकर पी ले ! किन्तु इसके लिए बाजार उठकर जाना सम्भव न था। उसने जेब से पेन निकाली और अपनी नोट बुक उठा लाया—दूसरे क्षण उसकी क़लम दौड़ रही थी—

इस संयुक्त परिवार की योजना के नीचे ही क्या एक-एक व्यक्ति तिलतिल कर नहीं मिट रहा है ? कितना पहाड़ सा असन्तोष, कितनी गम्भीर अपरिवर्त्तनशीलता और अनौचित्य दबा पड़ा है हमारे बाह्य रूप से सुखी सन्तुष्ट और सभ्य दीखनेवाले गृहस्थ परिवारों में ! हरेक अपना-अपना दायरा बनाये हुए जीवन के भयंकर खेल में दाँव लगाए दे रहा है। कौटुम्बिक प्रथा का प्रपंच खड़ा कर प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की हत्या करने के लिये मजबूर है। अपने व्यक्तित्व का विकास अस्त कर सम्मिलित परिवार का भार लादे हुए जीवन की गाड़ी अव-रुद्ध दिशाओं की ओर घसीट ले चलने को विवश है। अपनी महत्ता का मिथ्या प्रदर्शन, अपनी श्रेणी के मानव-अधिकारों की झूठी विडम्बना, स्वतन्त्र व्यक्तित्व की आहुति देकर भी क़ायम रखना कितना बड़ा ढोंग है ! इस बोसीदा क़िले की रक्षा करना अब असम्भव है। इस विशाल अट्टालिका की नींव खोखली हो चुकी—वह गिरेगी और शीघ्र ही गिरेगी—आर्थिक ईंटों में लोना लग गया है। हमें अब नई

इमारत का निर्माण करना है जिसमें स्वतन्त्र व्यक्ति पल सके, मानवता का स्वस्थ विकास साँस ले सके। आर्थिक व्यवस्था पर यह बलिदानों की प्रथा हमें नष्ट करनी ही होगी—

हरीश लिखे जा रहा था। माथे से पसीना टपकने लगा, कुरता तर हो गया, होंठ सूख गये। किन्तु हरीश की लेखनी दौड़ रही थी। गिरीश ने नीचे से पुकारा—"खाने आओ ददा!" "मुझे भूख नहीं है!" कहकर वह फिर लिखने लगा। उसके धैर्य्य के समुद्र में अधैर्य्य का ज्वार आ गया था, उसकी निस्पृहता आज विकृत हो उठी थी! सहिष्णुता सीमा पार कर चुकी, और यथार्थ ने आँखों में उँगली डाल दी! व्यक्ति के प्रति कुटुम्ब की, समाज की, दुनिया की निर्दयता और अन्याय-उत्पीड़न के प्रति जाग उठा उसमें एक क्रियात्मक विद्रोह! वह साहित्यिक नहीं था। उसने कभी एक लाइन भी लिखी नहीं किन्तु आज एक आग थी जो अक्षरों से फूटी पड़ती।

सुबह उठकर वह सबसे पहिले स्थानीय साप्ताहिक पत्र में अपना लेख देकर रुपये ले आया। रुपये मोहन को देकर उसने उसकी दवा आदि की व्यवस्था की और फिर शीला को तार दिया कि मैं आ रहा हूँ! किन्तु तार देकर घर पहुँचा ही था कि पिता जी ने दूसरे आए हुए तार का लिफ़ाफ़ा पकड़ा दिया। शीला का देहान्त हो चुका था! हरीश के हाथों से तार छूटकर जमीन पर गिर पड़ा। किन्तु वह निश्चल रहा, उसकी आँखों में पानी भी न झलका। लगभग आधे घंटे तक वह पथरायी हुई दशा में वहीं बैठा रहा। फिर उठा, अन्दर गया—अम्मा जी, विनोदिनी वग़ैरह ने कृत्रिम सिसकियाँ भर रोने का स्वाँग धरा। वह आँधी की तरह ऊपर चला गया। उसे कुछ सुनने की फ़ुरसत न थी। कोठरी अन्दर से बन्द कर वह फिर लिखने लगा। और तब तक लिखता रह जब तक थककर सो न गया।

धीरे-धीरे हरीश लेखक हो गया।

वर्षगाँठ

चौधरी इन्द्रजीतसिंह की जमींदारी के सभी काश्तकार कुछ थोड़े से नवयुवकों को छोड़कर बड़े सन्तुष्ट थे। इन नवयुवकों में से अधिकतर मिडिल स्कूल के पढ़े हुए लड़के थे जो कभी-कभी समाचारपत्रों को आस-पास की लाइब्रेरियों से जाकर पढ़ आया करते थे। चौधरी साहब की जमींदारी में किसी काश्तकार को किसी चीज के लिए किसी दूसरे के पास नहीं जाना पड़ता था। चौधरी साहब रुपया क़र्ज देते थ, ग़ल्ला देते थे, और कपड़े का बैंक भी खोले हुए थे। रियाया सन्तुष्ट जरूर थी, लेकिन ख़ुशहाल न थी। चौधरी साहब का जब कोई काश्तकार बीमार पड़ जाता था तो दवा आदि भी दे आया करते थे और सहानुभूति प्रकट करते थे। लेकिन यह कुछ लौंडे थे जो उनके हरेक कार्य को कूटनीति ही समझा करते थे। कहते थे, यह गुर्गा बड़ा होशियार है। हम लोगों के घर में एक पैसा भी नहीं रहने देता। और किसी महाजन से क़र्जा लेते तो कुछ न कुछ छूट ही जाता, यह कौड़ी कौड़ी वसूल कर लेता है और जो कुछ भी हमारे घर में रह सकता है, अपने जाल से यह अपने घर घसीटे बिना नहीं छोड़ता। लोग कहते—"देखो, आज हरिवंश महतो का लड़का ज्वर में बेहोश पड़ा था, चौधरी साहब दवा दे गए तब आँखें खोलीं", तो लौंडे मुँह बनाकर कहते—"मनों भँगरे की पत्ती खेत में भरी पड़ी है। अगर हम देते तो कुछ नहीं, वह चौधरी दे गया तो बड़ी बात हो गई।" इसी प्रकार साल पर साल निकलते गए और असन्तुष्ट नवयुवकों की तादाद बढ़ती ही गई।

एक दिन चौधरी साहब अपनी पेटेण्ट पोशाक, खद्दर का कुरता, धोती, और सिर पर एक ख़ास ढंग की पगड़ी बाँधे हुए, कन्धे पर बन्दूक़ रक्खे खेतों से निकले चले आ रहे थे, कि देखा रामअधार यादव, जिनकी उम्र ६० वर्ष की सीढ़ियाँ पार कर गई थीं, शिथिल शरीर, झुर्रियों से भरा चेहरा, सन सी मूछें, जिन पर स्वेद बिन्दु लहरा

रहे थे—खेतों में हल बैलों को छोड़ खेत की मेड़ पर बैठे हाँफ रहे हैं। फौरन चौधरी साहब उनके पास पहुँचे और बोले—"रामअधार भइया, इस पन में नाहक़, तुम अपनी जान खोते हो इतनी मेहनत करके ? तुम्हारे कौन बैठा है ? बिटिया है वह अपने घरबार की हो गई। वह लोग मजे में ही हैं, ऐसा भी नहीं कि तुम्हारी रोटियों पर पड़ें आकर। न हो तो इस सब जंजाल से छुट्टी करो और हमारे ही यहाँ रहो चलकर। वह भी तो तुम्हारा घर है, जो रूखा सूखा हम खाएँगे, वह तुम्हें खिलाएँगे। आदमी किसी को खलता थोड़े ही है ? तुम दरवाजे पर रहोगे तो लड़कों को ही डाँटते रहोगे। और तुम्हें करना क्या है ?"

रामअधार बोले—"मालिक, बैठे बैठे कैसे खाएँ ? हाथ पैर चला के खाना चाहिए।"

चौधरी साहब ने अति विनम्र शब्दों में कहा—"उमर भर तो हाथ पैर चलाया है। अब बुढ़ापे में तो कुछ आराम करो, राम भजन करो। और जो तुम ऐसे किसी का नहीं खाना चाहते तो तुम्हारे पास तो चार छः बीघा ज़मीन है, जो दो ढाई सौ की होगी। सो भाई हमें दे दो और तुम्हें तुम्हारी जिन्दगी भर का ठेका लिख दें, तुम तब तो न समझोगे कि हम किसी का मुफ्त खाते हैं ?"

रामअधार सिर झुकाकर बोला—"मालिक खेत पात तो सब आपके ही हैं।"

चौधरी साहब ने मुस्कराते हुए कहा—'जो बात हमने कही, उस पर सोचना विचारना। अच्छा, हम चलते हैं।"

कुछ भी क्यों न हो चौधरी साहब का हृदय पत्थर का तो बना नहीं। अपनी रियाया की तकलीफ़ों से वह पिघल जाते हैं। उदारता उनके अन्तर-द्वार के कृपण कपाटों को ठेलकर घुस ही जाती है। कठोरता के द्वारपाल उस समय रक्षा करने में असमर्थ हो जाते हैं।

× × ×

कुछ दिन बाद लोगों ने देखा कि रामअधार चौधरी साहब के यहाँ रहने लगे हैं, और अपना खेत-पात उन्हें लिख दिया है। एकबार

नवयुवकों के दल ने फिर कहा—"बुड्ढा अहीर ही तो था। अहीर की जात पोंगा। साल दो साल मुश्किल से ज़िन्दा रहेगा। ज़्यादा से ज़्यादा सौ रुपया खाएगा।" उनमें से एक ने कहा—"मोहन काका पार साल चार सौ रुपया देते थे। कहते थे तुम अपने पुरखों की गया भी कर आओ, और लौटने पर जितने दिन ज़िन्दा रहोगे हमसे जो मदद हो सकेगी, करेंगे। लेकिन अपने भाई को नहीं दिया खेत-पात, और जाकर चौधरी के टुकड़ों में पड़ा है।" दूसरा बोला—"अरे भाई चौधरी की तरह उदारता की डोरी में फँसाना वह जानता है? तुम भी क्या बातें करते हो उस काइयाँ की। यह चौधरी मोहिनी डालता है, मोहिनी......!"

इधर ऐसा वातावरण था। उधर चौधरी के घर में ऐसी चलती, चौधराइन कहतीं—"यह कौन सी बला तुमने पाली है? यह बूढ़ा बैठा-बैठा खों खों किया करता है, न कुछ करता है न धरता है, और खाने को चार पनथी रोज सकेल जाता है।"

चौधरी मृदु मुस्कराहट से होंठ भिगोकर कहते—"यहाँ सरसों का साग और दाल जो पा जाता है, रोटी जल्दी गले से उतर जाती है। उमर तो गुज़री बेचारे की सूखी रोटियों में। और फिर तुम इन बातों को जानो क्या?—चौधरी साहब के माथे पर गम्भीरता की सिकुड़न पड़ जाती—इन्हें तो हमीं जानते हैं। लेकिन देखो, उसे कुछ कहना नहीं। खाना पानी उसे सब ठीक तरह से मिला जाए।"

समय की कौन पकड़ है। वह अपनी दौड़ में सबको पछाड़ता, भागता गया। सर्र सर्र हवा के झोंके की तरह जाड़ा, गर्मी, बरसात को बखेरते हुए पाँच छः साल निकल गए।

इधर इतने वर्षों के अन्दर ही चौधरी ने चार-पाँच और काश्तकारों की ज़मीनें अपने क़ब्ज़े में कर लीं। इस व्यापार में रामअधार का भी चौधरी साहब की ग़लत प्रशंसा और प्रोपेगैंडा का हाथ था। इन काश्तकारों में से ठाकुर ज्वालासिंह को छोड़कर बाक़ी सब स्वर्ग सिधार गए थे। ठाकुर ज्वालासिंह ने अपने खेतों को छोड़ते वक़्त दस रुपया माहवार तय कर लिया था और वह अपने ही घर में रहते थे। इनकी ज़मीन भी आठ बीघे थी जो ज़्यादा से ज़्यादा चार सौ

रुपए की थी। ठाकुर की आयु के अस्सी वर्ष पीछे जा चुके थे। शरीर से इतने कृश भी नहीं थे, लेकिन गठिया के मर्ज ने उन्हें काम करने से लाचार कर दिया था।

पाँच छः बरस बीतते न बीतते ठाकुर ज्वालासिंह यह बात अनुभव करने लगे कि अब वह अपने खेतों की क़ीमत से अधिक ले चुके हैं, और अब दूसरे का पैसा खा रहे हैं। यह सोचकर उन्हें ग्लानि हुई। सदियों से रक्त-संचित गुलामी की उदारता नसों में बह उठी। ईमानदारी जैसे हृदय को झकझोरने लगी, और उन्होंने चौधरी साहब की ड्योढ़ी पर लाठी टेकते हुए जाकर निवेदन किया—"मालिक, अब तो हम बुढ़ापे में काम करने से लाचार हुए हैं। लेकिन फिर भी कोई ऐसा काम, जो हमारे लायक़ हो बतलाइए। हम अपनी ज़मीन की क़ीमत से कहीं अधिक खा चुके हैं। अब हम आपका अन्न मुफ़्त में कैसे ग्रहण करें। हमें बड़ी लज्जा आती है मालिक!"

चौधरी साहब ने दाँत निपोरकर कहा—"नहीं ठाकुर हमारा तुम्हारा ज़िन्दगी भर का क़रार था। ज़िन्दगी मौत का सवाल जान बूझकर थोड़े ही हुआ करता है? हमारी तरफ़ से तुम और सौ बरस ज़िन्दा रहो। खाने पीने से क्या कुछ घटता बढ़ता है"—और उनके चेहरे पर ज़बरदस्ती का लाया हुआ साहस का भाव स्पष्ट अंकित हो गया, जिसे शायद सिर झुकाए बैठा ठाकुर ज्वालासिंह नहीं देख पाया। और फिर सिर की पगड़ी सँभालते हुए चौधरी साहब, ठाकुर को घर में जाकर आनन्द से बैठने की आज्ञा देकर अन्दर चले गए।

कुछ दिन बाद चौधरी साहब के साहबज़ादे पद्मसिंह जी एल. एल. बी. पास कर आ गए, और उनके कारिन्दे उनको हिसाब समझाने लगे। ख़र्च के खाते में उन्होंने ठाकुर ज्वालासिंह के नाम भी एक खाता देखा और पूछा, "यह रुपया किस मद में जाता है?" कारिन्दों ने बताया—"इन्होंने अपने खेत सरकार को दे दिए थे, और तभी से इनको यह रक़म दी जाती है।"

उन्होंने कहा—"वह काग़ज़ात भी हमको दिखलाओ।" और उन्होंने इन काग़ज़ों को भी देखकर खेतों की क़ीमत कुछ कम लगाते

हुए कहा—"यह बुड्ढा तो तीन सौ से भी अधिक खा गया।" और फिर एक दिन भोजन करके उठते समय उन्होंने अपने पिता से कहा—"आपने तो अच्छा खैरातख़ाना खोल रक्खा है।"

चौधरी साहब ने उत्तर दिया—अभी तुम कालिज से नये आए हुए हो, इन बातों को कम समझते हो।

पद्मसिंह जी की भौंहों पर बल आ गए। लेकिन उन्होंने मुख नीचा करके मौन रहना ही उचित समझा।

जाड़े के दिन थे। गाँव के नवयुवकों की टोली ठाकुर ज्वालासिंह के दरवाज़े फूस के छप्पर के नीचे बैठी अलाव ताप रही थी। एक कह रहा था—"बाबा, तुमने तो सबकी रक़म वसूल कर ली। तुम्हीं वाक़ई सच्चे क़िसान हो। ख़ूब चूमे जाओ। अच्छा बदला लिया तुमने। ख़ूब परका था लोगों की ज़मीनें हज़म करके।" दूसरा बीच में बोल उठा—"बाबा, तुम हज़ार बरस जियो, हम लोगों की यही कामना है। और यहाँ तक खाओ कि उस चौधरी के घर में एक कौड़ी न रह जाए।" तीसरा कह रहा था—"साला समझता है, हम बड़ा उपकार कर रहे हैं। जाने कहाँ-कहाँ से हम लोगों का ख़ून चूसता है!"

यह उस ज़माने की बात थी, जब देश में आन्दोलन मचा था, और जनता जागृत हो चुकी थी। और कपड़े के बैंक और गल्ले की ड्योढ़ी के फन्दे में कुछ कम फँसती थी, और किसान अपने को एक दूसरे का भाई समझने लगा था। भाईचारे के नाते परस्पर की आवश्यकतायें और कार्यों को यथाशक्ति आपस ही में पूरा कर देते थे, नहीं तो कोआपरेटिव बैंक से काम चलाते थे।

आन्दोलन के समय में इन नवयुवकों की तानेबाज़ी की ख़बरें रोज़ ही चौधरी साहब के कानों में पहुँचा करतीं। यद्यपि उनके बहुत से व्यापारों के शिथिल पड़ने से काफ़ी रुपए-पैसे की दिक़्क़त आ गई थी, लेकिन चौधरी साहब इस नाज़ुक समय में अपने अस्तित्व को क़ायम रखने के लिए कुछ अधिक उदार बन गए। एक न एक व्यंग लौंडे रोज़ ही छोड़ा करते। आख़िर ठाकुर ज्वालासिंह की आयु के सौ वर्ष

पूरे होते देख चौधरी साहब ने तय कर लिया कि अच्छी बात है हम ठाकुर की सौवीं वर्षगाँठ बड़े धूम धाम से मनाएँगे, ताकि रियाया के दिलों में जो इन लौंडों की बातों से चौधरी की तरफ़ से बदमैली फैल रही है, मिट जाए। घर में पद्मसिंह और चौधरी साहब की पत्नी इस स्वाँग के बिल्कुल खिलाफ़ थीं। और इस विषय पर उनसे काफ़ी तू तू मैं मैं हुई। चौधरी साहब की भी जिन्दगी व्यापार में गुज़री थी। वह मन में सदैव हिसाब लगाए रहते थे, लेकिन उनको कभी औरों पर प्रकट न होने देते थे। अन्दर ही अन्दर जैसे उनका कलेजा कोई निचोड़ता, लेकिन ऊपर से उनके मुख पर कोई विरोधाभास न प्रकट होता। स्वर में वही सहज सरलता, व्यवहार में वही उदारता।

वर्षगाँठ का दिन आया। चौधरी साहब के हुक्म से कारिन्दों ने पहले ही से ख़ूब इन्तज़ाम कर रक्खा था। कारिन्दे दौड़ धूप में लगे हुए थे, सवेरे से हलवाई बैठा था। इलाक़े भर का भोज था। शामियाने गाड़े जा रहे थे। मैदान में सफ़ाई हो रही थी। अचानक ख़बर आयी कि चौधरी साहब की तबियत एकाएक ख़राब हो गयी? और फिर थोड़ी ही देर में मालूम हुआ, चौधरी साहब का हार्ट फ़ेल हो गया। घर में कुहराम मच गया, गाँव में हलचल मच गयी। सब जहाँ का तहाँ सारा सामान पड़ा रह गया। कोई जान भी न पाया कि चौधरी साहब को आनन फ़ानन क्या हो गया। गाँव के नवयुवकों के दल ने कहा—"खिलाते-खिलाते बेचारा घुल गया।" और उनके कारिन्दों ने कहा—"अब उनकी घर में चलती न थी। आज इसी ठाकुर की वर्षगाँठ को लेकर कितनी चख-चख उनके घर में हुई। हयादार आदमी थे कुछ खाकर सो रहे होंगे।"

खैर कुछ भी हो। दूसरे दिन शाम को गाँव के कुछ नवयुवक अपने-अपने घरों से पूड़ी, मिठाई, अचार, चटनी बनवाकर ले आए, और ठाकुर उजलासिंह के यहाँ आकर बोले—"आओ बुढ़ऊ बाबा, कल तो चौधरी ने मर कर तुम्हारी वर्षगाँठ को अमर कर दिया। आज वाक़ई हम तुम्हारी वर्षगाँठ मनाते हैं। लो खाओ ये पकवान,

और आनन्द मनाओ। और सौ बरस जियो बाबा"—कह-कहकर लड़के ताली पीटने लगे।

बुढ़ऊ बाबा क्रुद्ध स्वर से गाली देकर लौंडों की तरफ़ झपटे, कि नवयुवकों में से एक ने लपटकर उन्हें गोद में उठा लिया, और लगा नाचने। फिर तो सबों ने एक साथ नाचना शुरू कर दिया, कह-कह कर—"अरे बाबा, गुस्सा क्यों होते हो? कुछ उसने अपनी गाँठ से खिलाया है? अरे वह सब हमीं लोगों का है, हमीं लोगों का। हमीं लोगों का ख़ून चूस-चूसकर तो उसने इकट्ठा किया था? बाबा, अन्न-दाता वह नहीं था, हम लोग हैं। तुम्हारा अन्न तुम्हें खिलाते उसका हार्ट फ़ेल हो गया। "बोलो अन्नदाताओं की जय।" और लड़के फिर दूने उत्साह से नाचने लगे, ठाकुर के गले में लड़कों की बाँहें झूल रही थीं।

पत्थर की देवी

शान्ति—बन्ने के उबटन लगा रही थी, सामने दोनों हाथ से पैजमिया पकड़े कम्मो आकर रोने स्वर में बोली—"अम्मा, इसका इजारबन्द टूट गया है, डाल दो!"

शान्ति ने सिर ही नहीं उठाया।

वह फिर बोली—"अरे, सुनती नहीं, डाल दे।"

शान्ति ने ऊपर आँखें कर उसे घूरकर देखा। ग़ुस्से में भरकर चिल्ला पड़ी—"देखतो नहीं, अन्धी होगई क्या? चल हट यहाँ से! राह्लो से जाकर कह।"

कम्मो ने ज़ोरों से पैर पटकने शुरू किए। एक हाथ से अपनी खिसकती हुई पैजमिया पकड़ी, दूसरे हाथ से शान्ति के कन्धे झकझोरती हुई मचलकर बोली—"नहीं...तू.. ही...डाल..." और एँ...., एँ..., करती हुई रोने का अभिनय करने लगी!

इतने में चौके में चन्दा ने आले में से घी की हँडिया उठाते हुए गिरा दी भड़ से। वह घी और बुकनू मिलाकर बासी रोटी खाने जा

रहा था। अम्मा ने ही उससे कहा था, जाकर चम्मच भर घी निकाल ले। अब फूट गई तो वह क्या करे? अपराधी की भाँति माँ की ओर वह रुआँसे मुँह से ताकने लगा।

शान्ति दाँत पीसकर चिल्ला पड़ी—"ओ कम्बख़्तो, तुम्हें मौत भी नहीं आती? हर वक़्त आफ़त मचाए रहते हो। ज़रा सा तेल लगाने बैठी कि तूफ़ान आ गया।"

गुस्से में भरी थी ही—सामने पिनपिनाती हुई कम्मा पड़ गई—उसकी पीठ पर कस-कस के दो चाँटे जड़ दिए। अब कम्मो को तो घंटे भर चीख़ने की छुट्टी मिल गई। बन्ने के तेल लगाकर शान्ति ने उसे भूले में लेटा दिया। शल्लो अपना सबक़ याद कर रही थी, उसे बुलाकर कहा—"भूला धीरे-धीरे हिलाती रह!" और स्वयं चौके में गई। मारे डर के चन्दा जल्दी-जल्दी ज़मीन से घी पोंछ रहा था। उसके कान ज़ोरों से ऐंठ कर शान्ति ने चौके के बाहर किया, और फिर घी स्वयं उठा धर कर रोटी पानी करने में लग गई।

रो धोकर चन्दा बिना रोटी खाए ही बस्ता उठाकर मुँह फुलाए स्कूल चला गया। कम्मो को शल्लो ने बहला फुसलाकर चन्दा की रक्खी हुई फुलझड़ियाँ दिखलाईं। अब उसने हठ किया, "फुलझड़ी छुटा दे।"

शल्लो बड़े असमंजस में पड़ी—फुलझड़ी छुटाती है, तो चन्दा उसे दुरुस्त करेगा, और नहीं छुटाती है, तो कम्मो से पीछा छुड़ाना सहज नहीं। उसने कुछ सोचकर, अपने गुल्लक में जमा की हुई दो चार पाइयों में से एक पाई निकाली, और कम्मो को फिर बहलाया—चुमकार कर कहा—"रानी बिटिया, फुलझड़ी बड़ी ख़राब होती है, उसकी चिनगी छूटकर आँखों में पड़ जाती है, चलो तुम्हें पटाख़ा ले दें। पटाख़ा बड़ा अच्छा दगता है।"

समझा बुझा कर शल्लो उसे ले गई। गली में ही पटाख़ेवाले की दूकान थी। एक पटाख़ा उसे ले दिया, और घर लिवा लाई। पटाख़ा दगाया गया। ज़ोर का जा धड़ाका हुआ, तो भूले में सोया हुआ बन्ने चौंककर चिल्ला उठा।

[illegible]
[illegible]

[illegible]

"क्या दिन रात बड़बड़ाया करती हो ? इतना काम करती है, मगर तुम हो कि सन्तोष ही नहीं। लड़के जिस घर में होते हैं, ऊधम मचता ही रहना है ! पटाखा दगा ही दिया तो क्या हुआ, अभी वह भी तो नासमझ है।" ज़रा तीव्र स्वर में प्रकाश ने हाथ धोते हुए कहा।

उसे यह सब बावेला पसन्द नहीं। वह किसी बच्चे का रोना धोना सुनता है तो उसके ग़ुस्सा चढ़ आती है।

जब से घी की हाँडी फूटी थीं, और चन्दा बिना खाए स्कूल चला गया था, शान्ति अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी। उसके क्रोध की चिनगारी को प्रकाश के शब्दों ने वायु का झकोरा दिया—झनझनाकर बोली—"बस तुम आए, और लगे शह देने। इसी से तो लड़के और सिर चढ़ जाते हैं। मैं कहती हूँ तुम लड़कों के बीच में क्यों दखल देते हो ?"

आँखें निकालकर प्रकाश ने कड़ी आवाज़ से कहा—"दख़ल की बच्ची, देखता हूँ तुम्हारे दिमाग़ आस्मान पर चढ़े जा रहे हैं।"

शान्ति सहम गई, किन्तु नारीत्व का बन्दी अभिमान भीत स्वर में बोल उठा—"क्यों, मेरे दिमाग़ को क्या हुआ, जो इस क़दर गरम हो रहे हो ?"

—"मैं कहता हूँ बस चुप रहो, नहीं अभी बता दूँगा।" कठोर शब्दों से प्रकाश कड़क उठा।

शान्ति का मुँह भी कठोर हो पड़ा, भँवें चढ़ाकर बोली—"क्या बताओगे ? तुम हर बात में मुझे यह धमकी क्यों दिया करते हो ?"

—"कहता हूँ भलाई चाहो तो चुप रहो।" तमक उठा प्रकाश।

—"नहीं चुप रहूँगी"—शान्ति तैश में आ गई।

—"अच्छा तो ले !"—पास पड़े चिमटे को उठाकर प्रकाश ने तड़ातड़ शान्ति की पीठ पर जमाना शुरू कर दिया। शान्ति चीखकर चौक से निकल भागी। बन्नू रो ही रहा था। सहमी हुई शल्लो भी सिसकने लगी और मारे डर के चौंक कर कम्मो भी चीख़ उठी।

आफ़िस का टाइम हो ही गया था। क्रोध में खाया जाता ही नहीं। तमतमाए हुए प्रकाश ने कोट पहना, और तेजी से दफ़्तर को चल दिया।

घर का वातावरण भयंकर था। लड़कियाँ सहमी हुई, दुबकी पड़ी थीं। शान्ति क्षोभ और अपमान-वेदना से फूल-फूलकर रो रही थी। बन्ने उसकी गोद में आँचल के नीचे पड़ा, सूखे स्तन चूस दूध न पाने पर हाथ पैर मारकर चिल्ला उठता था।

गली में गरीवाला निकला। कम्मो दौड़ी—सब कुछ भूलकर अम्मा के पास आ माँगा—"अम्मा, एक पैसा दे, गरी लूँगी।"

अम्मा को इस वक्त गरी की बात कहाँ सुहाती। आँसू पोंछती चुप रही। फिर कम्मो ने जरा जोर से कहा—"अम्मा, पैसा दे।"

भर्राई हुई आवाज़ से शान्ति ने कहा—"पैसा नहीं है।"

—"नहीं, पैसा दे, गरी लूँगी!"

—"कह दिया, पैसा नहीं है जान न खा!" उसकी भँवें तन गईं।

—"एक पैसा......"—कम्मो ने रोना शुरू किया।

बन्ने को चिपकाए शान्ति उठी, पानदान में एक दिन दो पैसे डाल दिए थे। कुल्हियाँ उल्टी-पलटीं, न मिले। आले पर राँगे की इकन्नी उस दिन की लौटी हुई पड़ी थी। उठाकर दे दिया—"ले!"

पलक मारते कम्मो उठकर आई, इकन्नी लेकर हवा हो गई। गालों पर दो आँसू की बूँदें ढुलककर रुक गई थीं, और धूप की रोशनी में चमक रही थीं—बरबस हँसी होठों से फूटी पड़ती थी। इकन्नी गरीवाले की डलिया में डालकर हर्षोल्लास से कम्मो ने कहा—"एक पैसे की गरी दे दो।"

तब तक पीछे से चुपके-चुपके शन्नो भी आ गई थी। उसके हाथ खाली देख बोली—"बड़ी बेकूफ़ है तू कम्मो, उसकी डलिया में पहले ही पैसा क्यों डाल दिया?"

उसकी समझदारी को अपनी नासमझी से समझते हुए कम्मो ने अपनी नन्हीं हथेलियों में गरी लेकर कहा—"देख, यह गरी? बिना पैसे के थोड़े ही देता है!"

"अच्छा चल, पगली। हमें भी दे जरा-सी!"

"बिटिया, यह इकन्नी ले जाओ, इसे गाड़ दो तो पैसा फलेंगे, तब गरी लेना। दूसरा पैसा लाओ।" गरीवाले ने कहा।

इकन्नी लेकर दोनों लौट आईं। शान्ति बड़े असमंजस में पड़ी। कहा—"अच्छा गरी लौटा आ।"

किन्तु गरी तो मुँह में पड़ चुकी थी। वह जूठी गरी क्यों वापस करने लगा।

लाचार बड़बड़ाकर फिर पैसा ढूँढ़ने लगी। इधर देखा, उधर खोजा, प्रकाश के क़लमदान में आख़िर एक पैसा घिसा-घमाया मिल ही गया। गरीवाला लेता तो उसे भी न था, लेकिन देर हो रही थी, और शन्नो के कहने से—"लेना हो लो, नहीं जाओ। झगड़ा क्यों मचाते हो। और पैसा नहीं है, अपनी गरी ले लो न ?" उसने यही पैसा ग़नीमत समझा, और बड़बड़ाता हुआ डलिया उठाकर चलते बना।

× × ×

धोबिन ने किवाड़ खटखटाए। शान्ति अस्तव्यस्त चारपाई पर पड़ी थी उठकर किवाड़ खोले।

कपड़े गिनाकर धोबिन ने कहा—"आज बहू, क्या जी नहीं अच्छा ?"

—"नहीं तो !" अनमने स्वर में शान्ति ने उत्तर दिया।

—"मुँह तो उतरा है!"

शान्ति के अन्तर में आँधी बही। उसने एक व्यथातुर हँसी जबरदस्ती होठों पर फैलाई और लापरवाही से कहा—"यों ही। कुछ होगा। हाँ, तो कपड़े अभी ले जाओगी या फिर लौटकर ?"

"अभी लौटी आती हूँ बहू, तनिक चोखे धोबी के यहाँ हो आऊँ। बहुरिया के मारे तो मैं हैरान हूँ बहू जी, दुल्लो के ऊपर हाथ चलाती है। कोई उपाय बताओ क्या करूँ ? कोई टोटका बसीकरन हो तो खिला दूँ। मर्द को मारनेवाली औरत बहू जी, मैं क्या बताऊँ। दुल्ली उससे दब जाता है। वह बात-बात में शेर ऐसी अकड़ा करती है। हम लोगों के भी तो दिन थे बहू जी, लेकिन कभी झगड़ा हुआ हो गया। कोई बात नहीं। जूता पैजार तो नहीं होता था। मैं बात बढ़ाती ही नहीं थी।"

—"बड़ा अच्छा ही करती थीं तुम ? सती पार्वती बनी रहीं तो क्या हुआ ? दुल्ली की बहू ठीक करती है, क्यों सहे मर्द की आँख ?"—परिहास और व्यंग्य से जरा स्वस्थ होकर शान्ति ने उत्तर दिया।

"हाँ, मैं क्या जानूँ ! [illegible]
काम छुआ भी है ? तुम लोग क्या करो, लाचार हो ! घर में मेह-रिया-देहरिया होती तो तुम भी काम की कदर न जानते ? झख मारकर करना पड़ता है तो क्या करो"—वाक्य के अन्तिम शब्दों तक पहुँचते उसके स्वर में हास्य की ध्वनि, और होठों पर उपहास की मुस्कराहट भर आई। अंग-अंग पुलकित हो उठे उल्लास से, चन्दन को झर्र-झर्र माठा फिराते देख वह खिलखिला पड़ी। सामने खड़ा लम्बे-चौड़े क़द का गठीला जवान चन्दन, कजरी की सजीव सलोनी हँसी निहार स्थिर न रह सका—आँखें चमक उठीं—चेहरा मुस्कराहट से दमक उठा, और काली-काली फूटती हुई मूँछों की रेखा के नीचे के मोटे-मोटे होठ विचलित हुए—"वाह री मेरी भौजी, खूब चहकती है मैना की तरह"—के साथ ही जैसे अनजान में उसके हाथ की रस्सी छूट गई, और स्वप्नाविष्ट की तरह उसने अपनी दोनों मज़बूत बाहों में कसकर कजरी को आवद्ध कर लिया।

माखन अजगैन रेलवे स्टेशन से अपनी पैटमैन की डियूटी पूरी कर, दस बजते न बजते अपने क्वार्टर पर आ गया। कजरी घूँघट से मुँह ढाँक, लोटा भर पानी हाथ पैर धोने को ले आई। माखन ने खाट पर अलसाकर उठँगते हुए मृदु शब्दों से कहा—"तनिक नहाऊँगा कजरी, सुस्ती लग रही है। पानी है कि कुएँ पर चला जाऊँ ?"

कजरी ने धीमे से उत्तर दिया "पानी तो चन्दन भर गए हैं।" 'अच्छा' कहकर माखन उठा—खूँटी पर से धोती अँगोछा उतार लोटा लिया, और आँगन में मोहरी के पास जमी पत्थर की पटिया पर नहाने बैठ गया। पास ही पक्की ईंटों की ऊँची बनी घड़ौंची पर एक बड़ा बाल्टा और दो पीतल के गगरों में पानी भरा धरा था। जब तक माखन नहाया धोया, कजरी चौके में पीढ़ा पानी रख रोटी में मक्खन चुपड़ने लगी। माखन के आ जाने पर थाली में साग दाल सब परोस, उसके आगे सरकाकर सिर झुका विनीत भाव से बैठ गई। माखन ने खाते-खाते बातों का क्रम चलाया—"माधो के यहाँ कल चोरी हो गई, कुछ नहीं रहा। शिवराज की बेटी का अब की साल

ब्याह हो जायगा, बारात पहाड़पुर जाएगी। आज स्टेशन पर रीवाँ राज का एक क़ैदी आया था। इतनी भयानक सूरत थी कि तुम देखतीं तो बेहोश हो जातीं। यह चूड़ियाँ तो बड़ी अच्छी पहनी हैं"—आदि बातों की विभिन्न धारा जैसे कजरी के तट-सदृश हृदय को छूकर तटस्थ हो गई। प्रश्न ही उत्तर बन गए, और उत्तर ही प्रश्न। कजरी संकोच और लाज की मूर्त्ति बनी बैठी रही। खाने के बाद हाथ मुँह धो दालान में पड़ी खाट पर लेटकर, माखन ने बीड़ी सुलगाई और धुआँ उड़ाने लगा। आयु की चालीसवीं सीढ़ी पर क़दम रखता हुआ माखन अपने स्वस्थ गठीले शरीर और तरुण हृदय पर गर्व करके भी अपने काले-काले बालों में दो-चार श्वेत धागों का मुँह चिढ़ाना देखने लगा था। और उसके मुँह के ठीक सामने के दो दाँत दुर्घटनावश प्लेटफ़ार्म पर टूटकर असमय ही उसे वृद्धावस्था की शोभाहीनता दे गये थे—माखन लाख चेष्टा करने पर भी उसे दूर करने में असमर्थ था। दोस्त-मित्रों ने सलाह दी थी नक़ली दाँत लगवा लो, किन्तु ग़रीब ज़ात का माखन बड़ा मन्सूबा करने पर भी उतनी पूँजी अपनी द्वितीया नवविवाहिता कजरी के झुमकों और चुनरी के अर्पण कर देने में रह जाता। और फिर यह जो चरस पीने, जुआ खेलने की बुरी लत उसे पड़ गई है, सो तो ज़िन्दगी में उससे छूटने की नहीं। आदत से लाचार है, क्या करे। बारह रुपये पाता है रेलवे से। जिसमें एक बण्डल बीड़ी, एक चिलम चरस की उसकी रोज़ाना की अनिवार्य आवश्यकता है, और ताड़ी-दारू अलग से। जुआ तो बिना खेले उसका खाना ही नहीं पचता। सारांश यह कि कुछ भी नहीं बचता। छोटा भाई चन्दन है, सो उसके लिए गाँव के ज़मींदार से थोड़ी ज़मीन ले रक्खी है। घर के लिए इतना काफ़ी है। गाय-भैंसें हैं सो भी चन्दन सँभाल लेता है। करने को कजरी भी स्टेशन-मास्टर के यहाँ जाकर टहल काज कर आ सकती है, किन्तु माखन को यह पसन्द नहीं। उनकी बेगार वह स्वयं भुगत लेता है। व्यर्थ में टंटा क्यों मोल ले। तीन जनों का खर्च ही कौन बहुत—मज़े से चल जाता है। एक बहिन है, सो ब्याही ही है। कभी-कभी फागुन और

गठरा बाँध दन का बिचार ह हा ।

—"कजरी, तू भी खा ले। चन्दन को खाना लेकर खेत पर जाना होगा—या वह आप ही आकर खा जायगा ?"—खाट पर एक मैली तकिया तेल से चिकटी हुई और एक रंगउतरी दरी डाल लेटे हुए माखन ने आँखें बन्द किये उनींदे से कहा।

सिरके में पड़े आम का अचार धूप में रखती हुई कजरी ने उत्तर दिया—"आएँगे नहीं, वहीं ले जाना होगा। कुआँखेत पर तो होंगे ही, दिए आती हूँ लौटकर खाऊँगी।"

—"नहीं कजरी पहले खा ले, लौटने पर देर हो जाएगी"—माखन के स्वर में कोमल स्नेह का अनुशासन बोल रहा था।

—"मैंने भोर ही माठा गुड़ पिया था, अभी खाने का मन नहीं।" नम्र उत्तर देकर चौके में जा वह चन्दन के लिए रोटी रखने लगी।

माखन करवट बदलकर सो रहा। रात की डियुटी के कारण उसकी आँखों में नींद घुली जा रही थी। शरीर क्लान्त-श्रान्त हो रहा था। वह झपकी लेने लगा।

कजरी अँगोछे में खाना बाँध, बाहर के दरवाजे की साँकल चढ़ा, कुआँखेत की ओर चली। बारह बजे की धूप तीव्र होकर चमक रही थी। ग्रामीण झोपड़ों और कच्चे नीचे घरों के बीच गलियारे में इक्का दुक्का राह-चलतों से अलग, अल्हड़ आकांक्षा-भरी लहरती हुई कजरी चली जा रही थी। थोड़ी ही देर में फल-फूलों से भरे-पुरे हरे-हरे पेड़ोंतले के कुआँखेत के पास वह पहुँच गई। गेहूँ-जौ के हरे-हरे पौधों से ऊँचा-छाया खेत दूर-दूर तक फैला हुआ था। नहर से सिंचाई हो रही थी।

मेड़ के पास कुएँ के नज़दीक खड़ी हो कजरी ने पुकारा—"चन्दन !" चारो ओर स्नेह-स्वर की मधुर गूँज परिव्याप्त हो गई।

चन्दन हाथ-मुँह धो दौड़ा आया। जल्दी से कजरी के हाथों से पोटली छीनते टटोलते हुए हँसकर खीसें निकालता बोला—"आज तो बढ़िया माल जान पड़ता है !"

चमककर मटककर एक सलोनी अदा से, शोख़ भरे स्वर में होंठ बिचकाकर कहा कजरी ने—"धरे हैं माल, ले, खा ले!"

चन्दन कटोरा खोल चुका था—रोटी उठाकर देखा, दाल-साग के अलावा माठे में भीगी बेसन की फुलौरियाँ भी एक सकोरे में धरी थीं—प्रसन्नता से ललचाई दृष्टि ऊपर उठा बोला—"वाह भौजी, यह तो मेरे मन की चीज़ है। हः हः...."

जल्दी-जल्दी कौर तोड़ चन्दन खाने लगा। कजरी लोटा भर पानी ले आई। चन्दन ने कजरी के गालों में दाल लगा दी, कजरी लोटे का पानी उसके ऊपर उंडेलकर भागी। चन्दन ने गिड़गिड़ाकर कहा—"मेरी भौजी, पानी ला दे। प्यासा मर जाऊँगा। अरे, गले से कौर नहीं उतरता। ला....अरी, ला ...नहीं तो....कजरी कहकर पुकारता हूँ। ठेंगा मेरा कहे भौजी। बड़ी बनी है भौजी!"

—"और ठेंगा मेरा कहे चन्दन। मैं भी कहूँगी अरे ओरे चँदना!"

जब चन्दन खा चुका, झटपट बर्त्तन उठा तेज़ी से झमकता कजरी चली गई। तमाखू पीता चन्दन लालसा-रंजित नयनों से निहारा किया। घर लौटकर कजरी ने खाना खाया। तब तक तन्द्रालस माखन पड़ा सोया किया।

कोई एक गीत धीमे-धीमे स्वरों से होठों के अन्दर ही गुनगुनाती कजरी ने चौका-बर्त्तन कर डाला। और फिर बैठकर सूप भर लाल मिर्चें सुई से गूँथ माला बनाने लगी।

सहसा माखन की नींद ने विदा ली, और वह एक अँगड़ाई ले उठ बैठा। बीड़ी सुलगाकर देखा, आँगन की धूप में अलगनी पर लाल मिर्चों की माला बना कजरी डाल रही है। अत्यन्त मनुहार से बोला—"तेरे हाथ छरछराने लगेंगे कजरी, यह सब क्या गिरिस्ती बनाया करती है तू? अरे सेर भर मिर्चों में तो महीना पार हो जाएगा?"

गम्भीर मुँह बना धीर स्वर से कजरी ने कहा—"तो क्या हुआ? यह सब तो घर के धन्धे हैं। यह भी न करूँगी तो करूँगी क्या?"

निहाल हो गया माखन—स्नेह स्निग्ध-स्वर में पुकारा—"अरे तनिक यहाँ आकर बैठ, कजरी!"

संकोच के आवरण में लिपटी धीर-गम्भीर गृहस्थिन-सी कजरी मालिक के चरणों के निकट जा बैठी। मन में उफान न था, भावों में लहर न थी, शरीर में आवेश न था। केवल पतित्व के चरणों में पत्नीत्व के बन्दी हो जाने की सार्थकता थी!

चार बजे शाम से फिर बारह बजे रात तक की डियुटी थी। माखन ने कुछ खाने को कहा। कजरी लोबिया के चीलों के साथ चार पराठे भी उलट लाई। माठे से खा-पीकर माखन ने अपनी नीली वर्दी पहनी, चरस की डिबिया, बीड़ी का बण्डल जेब में डाल नीला साफ़ा बाँधा, जूते पैरों में डाले और लाठी उठाकर चल दिया। चन्दन बाहर ओसारे में गाय-भैंसों की करबी और हरियारी लेकर सानी करने जा रहा था। हर्षोल्लास से माखन को जाते देख बोला—"दद्दू, भोरी (भैंस) गाभिन हो गई है। आषाढ़ सावन तक ब्याएगी।"

माखन ने अनमनी हँसी हँसकर कह दिया—"चलो अच्छा है।" फिर तनिक रुक कर कहा—"हाँ, मेरी डियुटी बारह बजे खतम होगी। लेकिन मैं स्टेशन बाबू का काम कुछ है सो करके चार बजे सवेरे आऊँगा। समझे!"

"अच्छा"!—चन्दन समझ गया, आज जुए की मंडली जमकर बैठेगी।

× × ×

चौका बर्त्तन करके कजरी कंडे पाथने चली। उसके खेतों के किनारे ही बरगद के तले बठिया लगी थी। और भी गाँव की बहू-बेटियाँ जमा हो गई थीं। घूँघट के कोनों से झाँकतीं, गोबर भरे हाथों की चूड़ियाँ खनखनातीं, कोई हाथ मटका-मटका बातें करतीं, कंडे पाथकर पनघट की ओर चलीं, कोई सागसब्ज़ी लाने चलीं। कजरी भी साग तोड़ रही थी। चन्दन की बातें उसके मन में घूम रही थीं—"भौजी, अबकी की यह सारी फ़सिल तेरी ही है!"

और सरसों-फूली खेतों में सोना-ही-सोना बिछा पड़ा था। हरी-हरी जौ गेहूँ की बालियों के बीच, नीली फूली आँखोंवाली अकरा के पौधे झूमझूमकर, मन्द-मन्द झोंकों में भीनी महक लुटाए दे रहे थे।

शस्यश्यामला धरती अपने हरियाले अंचल में सोना-ही-सोना भरे, बोझ से लदी जा रही थी। अपने वैभव लदे खेतों पर जी-जान से निछावर कजरी, फूली न समा रही थी। इस साल अन्न से धरती फटी जा रही थी। कजरी तो कजरी, अन्य किसानों के हृदय में अबकी फ़सल को देख प्रसन्नता और गर्व का पारावार लहरें मारने लगता था। एक ओर खड़े होकर दृष्टि डाली तो दूर क्षितिज तक लहराती हुई हरियाली में सोना-ही-सोना। कजरी के तो चन्दन की यह थाती थी, वह क्यों न सिहाती। जब कि अन्य कृषकवधुएँ अपने पतियों से रात में लिपटकर बड़ी हसरत से कहतीं—"हमें अबकी हँसुली ज़रूर गढ़ा देना।"

वृद्धाएँ अपने पोतों को गोद में खिलाते, बेटों से लाड़ से कहतीं—"देख रे लल्लू! अपने मुनुआ का मूँडन फागुन में ज़रूर कर देना होगा!"

और लड़के तो बालहठ से आँखें मटकाते, लोटते-पोटते, मचलते, पैरों से चिमटते कहते—"हम तो अबकी होली में मलमल का कुरता 'ज़रूर' लेंगे।" उनकी उस 'ज़रूर' में कितनी ज़बरदस्त हठ भरी होतीं।

और वे तरुण, वृद्ध, उर्वरा वसुन्धरा माता के हृदय से अपनी अनवरत तपस्या के फलस्वरूप अन्नप्राप्ति का वरदान निकला हुआ देख, आशा-उमंगों की उठती हुई तरंगों को मन में ही दबाकर, साध-भरी मुस्कान को अधरों में ही समेटकर—सूम के धनसदृश—कृत्रिम लापरवाही से उत्तर देते—"चलो, चलो सबका तगादा पूरा होगा!" लेकिन इन संक्षिप्त शब्दों में उनके, कितनी हसरतों और अरमानों की भीड़ लगी खड़ी रहती।

कजरी खाने-पीने से छुट्टी पा कथरी लगाने में संलग्न थी। साँझ के सुरमई घूँघट को सूरज अपने लाल-लाल किरण-करों से खोलता चला जा रहा था। हवा लोच के साथ थिरक रही थी, कजरी आँगन में बैठी, चन्दन के लगाए हुए मिट्टी के थाले में नन्हें-नन्हें दो-तीन गेंदे के पौधों को मस्ती से झूमते देख गुनगुना उठी—अपना वही गीत, जो उसे विशेष प्रिय था—"राजा घर ही लगायो चँदन बिरवा...।" प्रायः यह गीत वह गाया करती।

तब तक सिर पर आटे की गठरी धरे चन्दन दरवाज़े से अन्दर आया। दालान में गठरी उतार माथे पर झलक आई दो-एक पसीने की बूँदें, और आटे की गर्द अँगौछे से पोंछ देहरी पर बैठ गया।

कजरी के गीत की उल्लसित गूँज '...चँदन...बिर...वा...' आँगन के कोने-कोने में परिव्याप्त हो रही थी। चन्दन मुस्कराया—कजरी के होठों से उसकी मुस्कराहट उलझी। कजरी ने अपनी कजरारी आँखों की तिरछी चितवन चन्दन की आँखों में डाली, दाँतों से होठ काट, ऐंठती बोली—"इतनी देर ? क्या चक्की पर फुलिया मिल गई थीं ?"

व्यंग्य सुन, गहरी साँस के साथ रहस्यमयी दृष्टि से उसे देखते हुए चन्दन बोला—"तूने तो सबको मात कर दिया है भौजी, फुलिया के दिल से पूछ, तुझे कितना कोसती होगी वह—कभी भर नज़र में उसे देखता भी नहीं। तूने तो अपने वश में इतना कर लिया है कि क्या बताऊँ ?"

तिनककर कजरी ने कहा—"चलो रहने दो! मर्द लोग बातें बनाना ख़ूब जानते हैं।"

चन्दन चौके में बैठा रसखीर (गन्ने के रस में पके चावल) खा रहा था। कजरी ने दुधहँड़ी से मोटी-मोटी सुर्ख़ पड़ी हुई मलाई उसके कटोरे में डालते हुए बड़े भोलेपन से ठुनुककर धीरे से कहा—"ए. चन्दन। उस दिन से जी मिचलाया करता है...रोटी अच्छी नहीं लगती...जाने क्या..." कहते-कहते पलकें लाज से झुका, होठों को अनुराग की मधुरता में डुबा, उसने सिर नीचा कर लिया।

चन्दन ने हँसकर ढिठाई से उत्तर दिया—"और ले! बड़ा अच्छा हुआ। कुछ दिन में आप ही जान जाएगी। मैं नहीं जानता, चल !"

बात आई गई हो गई।

धुँधले काले वृक्षों की चोटियों पर चाँद उग आया था। चरस का दम लगाकर माखन घर पहुँचा। आज हरखू के यहाँ पंचायत थी, उसमें जाना था। दोनों भाइयों का न्योता था। वह दोनों अपनी रंगीन पोशाकें पहन, व्यवहार के रुपए लेकर हरखू के शामियाने के नीचे पहुँच गए। कजरी ने थोड़ी-सी रसखीर खाकर दिया-बत्ती बुझा

दी, और अपनी खाट पर पड़ रही। दिन-पर-दिन उसे आलस्य घेरता जाता था।

भीगी रात दोनों भाइयों ने पंचायत से लौटकर साँकल खटखटाई। कजरी ने उठकर किवाड़ खोल दिए। उन लोगों ने कपड़े वग़ैरह उतार अपनी-अपनी खटियों की शरण ली। चन्दन चौपाल में सोता था, चुपचाप जाकर पड़ रहा। लेकिन माखन अपने बिछौने पर पड़ा देर तक करवटें बदलता रहा. उसे बड़ी देर तक तक नींद न आई। बराबर बैजू की वह बात—"देखो माखन! तुम तो अपनी नौकरी पर रहते हो। मेहरिया को बेलगाम न होने दो। रोज़ हम लोग उसकी बेशरमी देख-देखकर कटा करते हैं। दुनिया में क्या देवर-भौजाई होते नहीं, मगर हँसी-दिल्लगी मौक़े-मौक़े पर अच्छी लगती है। ऐसा नहीं कि औरत मर्द के सिर चढ़ जाए। अपनी जात-बिरादरी की बात न हो तो हमको क्या ज़रूरत कहने की—वह नंगी नाचे हमारी बला से। चन्दन को भी डाँट दो। बड़ी भौजाई से इस तरह मज़ाक़ नहीं की जाती"--कलेजे में काँटे की तरह खरक रही थी। बड़ी कठिनाई से उसने इन बार-बार उभरते विचारों को झटकार बीड़ी सुलगाई और नींद के यत्न में लगा।

भोर के उजियाले की राह देखे बिना ही चन्दन उठकर करबी काटने लगा। उसके गँड़ासे की आवाज़ से माखन की भी नींद टूट गई। एक झटके से वह उठकर बीड़ी सुलगाता हुआ बाहर चला आया। चन्दनके पासही बैठकर गम्भीरहो भर्त्सनापूर्वक कहने लगा—"चन्दन, तेरी बड़ी शिकायत गाँव में फैल रही है। जानता है रात हरखू की पंचायत में बैजू ने मुझे अलग बुलाकर क्या कहा था? क्यों तू मुझे थुकाने पर ही उतारू है? कजरी तेरी बड़ी भौजाई है न? हर वक्त उस से अठिलाना तुझे शोभा देता है? तू मुझसे कितना छोटा है, पाल-पोसकर इतना बड़ा किया, इसीलिए कि मेरी ही छाती पर मूँग दले? नहीं तो जहाँ महतारी-बाप मर गए थे, तू भी मर गया होता। अगर पर लग गए हों, तो अपना रास्ता ले, मुझसे कोई वास्ता नहीं। मैं नहीं सह सकता यह सब"—आखीर में माखन का क्रोध उबल पड़ा।

एक हाथ में गँड़ासा थामे, दूसरा करबी के मुट्ठे पर रक्खे, अवाक् चन्दन एक साँस में सब कुछ सुन गया। उसकी भँवों पर बल पड़े—पड़ते-पड़ते रहे। पलकों में कम्पन हुआ। विभिन्न भाव उसकी मुखाकृति पर रंग बदल-बदल चमक गए। चिढ़कर उत्तेजित स्वर में उसने कहा—"तो मैंने क्या किया दद्दू? मेरा खता बताओ न? वह हँसी करने लगती है, तो मैं भी बोल देता हूँ। तुमसे लगाने-बुझाने वाले इस गाँव में बहुत होंगे, जानते हैं न, उनका स्वारथ मुझसे सधने का नहीं। और पाल-पोसकर बड़ा करने की धौंस मुझ पर तुम क्यों गाँठते हो? मैं भी घर में बैठा-बैठा मौज तो उड़ाता नहीं। छाती फाड़कर काम करता हूँ, किसके लिए? मुझे क्या, जिधर निकल जाऊँ!"

माखन का मस्तिष्क थमा, किन्तु बनावटी क्रोध से डियुटी पर जाते-जाते वह कह गया—"शरम नहीं आती नालायक़ कहीं का, छोटे मुँह बड़ी बातें। कह दिया आज से कोई वैसी बात सुनी मैंने, तो तेरी मेरी राह अलग—समझे।"

और फिर सारा दिन शारीरिक श्रम, मानसिक संघर्ष में पिसता रहा माखन।

खीझ से भरा अपमानित चन्दन कटिया काटकर उठा—उसके और माखन के बीच जो समझौता हुआ, उसने जैसे उसके जीवन को बहुत दूर पहुँचा दिया। बात निभते-निभते भी जैसे छिटक कर अलग जा पड़ी। कजरी और उसका व्यक्तित्व जो एक दूसरे के अर्पण हो चुका, उसकी रक्षा करने का उपाय उसे सोचना ही होगा। वह कजरी को चाहता है, कजरी का मन उससे मिल गया है, और दोनों के एक हो जाने की प्रबल कामना भी तृप्ति पा गई है। किन्तु वह जो सत्य है, एक मात्र शाश्वत, उसे कैसे वह कुचले! ग़लत न्याय के आगे कैसे सिर झुका ले! नहीं यह नहीं होने का—दृढ़ भावना ने उसकी मुद्रा को कठोर बना दिया।

अस्वाभाविक मुद्रा देख कजरी ने टोका। चन्दन ने उसाँस के साथ कहा—"दद्दू ने आज बहुत बुरा भला कहा है। किसी गाँववाले

ने उनसे लगाया है भौजी, चला जाना चाहता हूँ, लेकिन तुझे छोड़ना पड़ेगा यही विचार दुख देता है।

कजरी के ऊपर वज्र गिरा! मर्मान्तक पीड़ा से वह काँप उठी।

× × ×

गोकुल बाबा का मेला था। चन्दन भी मेला गया। तमाम मेला छान डाला, कोई अनोखी चीज़ न मिली कजरी के लायक़। लाचार यही साधारण सुरमा, मिस्सी, टिकुली, बिन्दी, कंघी, चोटी, मोती मूँगे की माला और छल्ले अँगूठी उसने ख़रीद ली। एक रंगीन छपी केला सिल्क की धोती भी उसने ले ली। मिठाई के दोने के साथ सब चीज़ें बाँध बूँधकर घर पहुँचो। दोपहरी उतरने की धूप तिरछी होकर लेटी थी। हवा में अब फागुन की सिहरन थी। और ऋतु-परिवर्त्तन से वातावरण में एक अजीब मोहक मादकता आ गई थी। चन्दन उछाह से भरा दबे पाँव घर में घुसा—वह जानता था माखन घर में होगा नहीं, डियुटी दिन की थी! फिर भी वह ठिठकता हुआ गया, क्योंकि स्थिति में अब काफ़ी परिवर्त्तन हो चुका था। प्रत्येक क्षण सन्देह की सृष्टि कर सकता था। दोनों भाइयों के बीच उस स्नेह और सरसता की सींची हुई जगह अब नहीं रही। पहले जितनी निष्कपटता और आत्मीयता की शीतलता थी, उतनी ही अब छलना और परायेपन का उत्ताप। जो स्नेह-सम्बन्ध बँधा हुआ था, उसकी भित्तियाँ गिरती जान पड़ीं। अब दोनों की चार आँखें हो जातीं तो, व्यर्थ अकारण ही एक संशय, छल और घृणा उगलती सी। माखन अविश्वास से जला करता, और चन्दन ईर्ष्या से।

कजरी बछिया को पानी पिलाने बाहर गई, देखा—आँगन में चन्दन—झट उसके निकट पहुँच हाथ में थमी गठरी को लपक छीनती सी बोली—"क्या-क्या लाये हो?"—वही उल्लास की मनभावनी हँसी होठों पर लहरा उठी थी।

चन्दन ने कपड़े उतारते कहा—"देखो, मेरी गठरी न खोलना। उसमें तेरे लिए कुछ भी नहीं है"—मृदु मुस्कराहट के छिपाने की व्यर्थ चेष्टा चन्दन ने की, होठों पर मुस्कान झलक ही आई।

पर कजरी के भँवों पर बल पड़े, कृत्रिम क्रोध की मुद्रा में झनक कर गठरी पटक, मुँह फुलाकर बोली—"ले जाओ गठरिया मोटरिया, मुझे ऐसी ग़रज़ नहीं पड़ी है।"—और वह झमक कर पीछे घूम पड़ी।

कजरी मान कर रही थी। चन्दन उसको बरजोरी बाँहों में कस मोती की माला पहना रहा था। अचानक दरवाज़े पर ज़ोरों से साँकल खटखटाने की आवाज़ आई। साथ ही माखन की पुकार—'खोलो।' माखन कुछ हरारत हो आने की वजह से बीच में ही डियुटी बदलकर घर चला आया था।

दोनों के होश फ़ाख़्ता हुए। कजरी ने हड़बड़ाकर सब चीज़ें इधर उधर फेंक दीं, और चन्दन किवाड़ खोलने चला। आश्चर्यचकित माखन सन्देह के बादल लिए अन्दर आया। कजरी की मुद्रा बदली हुई थी। सकपकाई हुई वह खड़ी थी। माथे पर लाल बिन्दी का ताज़ा चिह्न लगा हुआ था, मिटाने की सुधबुध ही न रही। चन्दन बाहर चला गया था। माखन ने लाल लाल आँखें निकाल कजरी को ऊपर से नीचे तक घूरा, जैसे चिनगारियाँ छूट रही हों—रौद्रमुद्रा से दाँत पीस कड़क उठा—"क्या हो रहा था, मैं कब से पुकार रहा था।"

कजरी निर्वाक् स्तब्ध।

—"अरी मुँह में ज़बान नहीं ?"—आँखें तरेर माखन गरजा।

"बैठी थी, और क्या कर रही थी"—मुँह फुलाकर कजरी ने जवाब दिया, लेकिन स्वर में अपराधिन की सी झिझक मिली हुई थी।

—"बैठी थी, कि सिंगार किए खसम को रिझा रही थी"—क्रोध से, ईर्ष्या से, घृणा से, काँपते माखन ने इधर-उधर देखा—खाट के नीचे बीचोबीच रंगीन सी कोई चीज़ दिखी। बिजली की तरह तड़प कर सारी लिपटी-सिमटी वस्तुएँ निकाल उसने छितरा दीं—क्रोधोन्मत्त हो गाली और लातघूंसों के प्रहार कर विकृत स्वर में बोला—"गला-घोंट दूँगा री हरजाई। है किस फेर में ? तेरी यह मजाल ? देख आज ही निकालकर बाहर करता हूँ उस हरामखोर को, उसकी यह हिम्मत ? ओफ़ओह........" और रुआँसा माखन अवसन्न शिथिल शरीर लिए रह गया निर्जीव की तरह

कजरी सिसकती हुई बड़बड़ा रही थी !

× × ×

चन्दन चला गया। कजरी के जीवन के अमल धवल दर्पण में एक रेखा पड़ गई। हृदय में एक गाँठ बँधकर रह गई। एक ढर्रे पर चलनेवाली दिनचर्य्या। गार्हस्थ्य जीवन में उलझी, झंझटों में फँसी, गर्भावस्था की शिथिलता से दबी कजरी की वह छटा विलुप्त हो गई। मन मर गया, उद्गार ठंडे पड़ गए, तरुवेलि वृक्ष पर से हटाकर जैसे धरती पर फेंक दी गई। निरुपाय निस्संग अकेलेपन की चिनगारी राख से ढकी रहने लगी। यौवन की वह उच्छृंखलताएँ सिर झुका बैठ गईं। किन्तु चन्दन नहीं बिसरा—हृदय के भीतर सारी प्रतिकूलता के भी विरुद्ध एक उसकी सुधि की अन्तर्निहित ज्वाला जली रहती। कोई एक सदा सर्वदा आनन्द ज्योत्सना सींचनेवाली वस्तु उसके मानस के रेगिस्तान को बिलकुल खाली करके नहीं चली गई। जैसे यह अन्धकार भी रात बीत जाने पर न रहेगा। किन्तु प्रभात की लाली और जग मगाहट देखने की आशा के लिए ख़ूराक वह भरपूर नहीं जुटा पाती।- कारण मानसिक दरिद्रता तो था ही आर्थिक दरिद्रता भी चन्दन के चले जाने के बाद गले लगी।

वह बदली भरा दिन था। प्रातः से ही लोगों के हृदय धड़कने लगे। फागुन के दिन, फ़सल गले के बराबर लदी खड़ी, और यह बदली भरा दिन। दिन भर हवाएँ वेग से बहीं, साँझ होते ही ज़बर-दस्त आँधी में परिणत हो गई। बादल गरजे, और पट पट पट बूँदों के साथ रात के अन्धकार का हृदय छेदकर बड़े बड़े पत्थर धरती पर बरस गए। हवा के एक एक झोंकों में सौ सौ कटारियाँ खनखना उठीं। उद्दण्ड आँधी पानी प्रकृति को उलटने लगी। आकाश में बिजली तड़पी दिगदिगन्त को टुकड़े टुकड़े कर महाप्रलय गरजने लगा। चारों ओर त्राहि त्राहि, क्रन्दन का चीत्कार, जैसे अभागे किसानों के हृदय-समुद्र में तूफ़ान आ गया। दरिद्र किसान, उनके सोने से लदे खेत! आह! पल भर में सारा सोना मिट्टी में धँसकर रह गया।

कौन जानता था कि नित्य प्रति को सोने का पानी फेरनेवाली

अब दूसरे तीसरे, घंटे-डेढ़ घंटे का अवकाश पा चला आता चन्दन कजरी के गाँव...! माखन अजगैन में ही रहता। रोटी-पानी की तकलीफ़ उसे भी थी। वह भी कभी-कभी छुट्टी पाकर चला आता। लेकिन कभी दोनों में मुठभेड़ न हुई। माखन को पता लग गया कि वह उन्नाव में ही है? किन्तु उसे क्या करना वह तटस्थ रहा। कजरी के जीवन में वसन्त की हरियाली फिर फूटी। उसने अपने हर्ष की निधियाँ फिर पा लीं। मलय वायु फिर मलयाचल के फूलों पर लहरा उठी। अन्तर का सत्य से स्पर्श हुआ, एक विशेष कला, एक विशेष पुलक की भावना के विशेष ज्वार की अनुभूति लिए गहरी हलचल दौड़ गई। लोक ने अलौकिक आनन्द पाया, साधारण जो था आदर्श में परिणत हो गया। वही कजरी हँसती खिलखिलाती तो हृदय अपनी सजीवता उँड़ेल देता।

कभी-कभी चन्दन के लिए खाने की कोई अच्छी चीज़ तैयार रहती—आता तो खाता—नहीं तो स्टेशन जानेवाले किसी परिचित के हाथ भेज दी जाती।

× × ×

तालों में कमल फूले। शरद्-ज्योत्स्ना में एक दिन रात को कजरी ने 'कंचन' को जन्म दिया। बूढ़ी मा निहाल हुई, सोहर गाकर घर भर दिया गया, नेग-निछावरें बँटीं। माखन को खबर गई। कुछ रात गए चन्दन भी आया, ढेर-सा मेवा और मसाले लेकर। सलहज को चुपके से रुपए पैसों की पोटली पकड़ाकर उसने कान के पास मुँह ले जाकर कहा। "इसे सौरीघर में पहुँचा दो भौजी, जो जरूरत पड़े खर्च करें।" माखन की डियुटी साँझ की थी। वह दिन भर रहकर साँझ होते ही चला गया था। जमा पूँजी के नाम पर साढ़े तीनो रुपये ही जेब में बचे थे, सास को बुलाकर कहा—"यह रख ल अम्मा, और खर्च कल दूँगा लाकर।" और फिर खाना वाना खा वह लौट गया था। चन्दन रात भर रहा, साली-सलहजों के गीत सुनता रहा फिर भोर होने के पहले ही चल दिया। उसे सुबह की ट्रेनों पर पानी पिलाना था।

माखन चन्दन दोनों अपनी बारी-बारी से आकर कजरी और बच्चे की कुशल-क्षेम पूछ जाते। दिन जाते देर नहीं लगती। सौरिगृह में बठी-बैठी कजरी ने मेवा मसाले खाते नन्हें शिशु पर बलिहार जाते आनन-फानन बारह दिन बिता दिए। बरहा के दिन सबका न्योता हुआ, घर आँगन लिपा-पुता, पकवान बने, गाँव घर की स्त्रियां ने ढोल-मँजीरे पर गा-बजा आनन्द मनाया। कजरी पियरी धोती पहिन कर नन्हें लाल गुलाब-से शिशु को आंचल में ले, चमेली की फूलों भरी लता-सी बाहर निकली। सबने शिशु को देखा आशीषें दीं। माखन और चन्दन का भी उसी दिन सामना हुआ, दृष्टियाँ चार हुईं–कोई एक दूसरे से बोला नहीं—माखन विरक्त रहा और चन्दन भी।

शिशु को देखकर माखन ने कहा—"इसकी आँखें चन्दन से मिलती हैं क्यों न भौजी ?"

सलहज ने हँसकर उत्तर दिया—"अरे अभी क्या जान पड़े, तनिक त्रेड़ा होने पर जान पड़ेगा"—फिर मज़ाक़ के भाव से बोली—"अरे तो क्या हुआ देवर का ही होगा।"

सभी हँस एड़े।

चन्दन ने गोद में लेकर प्यार से बच्चे को चूमते हुए कहा—"बड़ा सुन्दर है ! लेकिन वाक़ई दद्दू को नहीं पड़ा है"—यह कहकर फिर—"ले जाओ भाई मुझे इतना छोटा बच्चा खेलाना नहीं आता"—हँसते हुए उसने साली की गोद में बच्चे को दे दिया।

कजरी का 'कंचन' अब हँसने किलकने लगा था। माखन एक दिन छुट्टी पाकर कजरी को लिवाने आया। सास से कहा—भेज दो न अब राटी-पानी की मुश्किल होती है।

किन्तु कजरी की बाधाओं की सूची अब पूरी हो गई थी। उसका वह भीषण विद्रोह बाँध तोड़कर उस दिन गरज पड़ा—"मैं तो नहीं जाऊँगी ! नहीं जाऊँगी, तेरे साथ नहीं जाऊँगी। जाऊँगी तो बसी चन्दन के साथ, नहीं तो कहीं डूब मरूँगी !"

भाई, बाप, गाँव के लोग सब जमा थे। माँ, बहिनें, भौजाई हैरान थीं। माखन साम, दाम, दण्ड, भेद सभी अस्त्रों का प्रयोग कर रहा

था किन्तु वह कजरी महाकाली-सी रुद्र रूप धारण किए गरज रही थी—"नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी,...तेरे साथ तो नहीं जाऊँगी !"

दमन-चक्र चला ! क़ानून का शिकंजा जो फ़ौलादी था माखन के पास। पंच बटोरे गए। विवाह-आधिपत्य ने कोड़ों से खाल खींचनी शुरू की। कजरी ने शान्त होकर कहा—अच्छा सबेरे चलूँगी।

किन्तु यह क्या ? सबेरे घर का कोना-कोना छान डाला गया। खेत-खलिहान, ताल-पोखर सभी जगह जाँच पड़ताल हुई, कजरी का कहीं पता नहीं। 'कंचन' को लिए उस समय वह तड़ातड़ जाती हुई जी० आई० पी० एक्सप्रेस के डिब्बे में बैठी हुई चली जा रही थी चन्दन के साथ।

मुरली !

गुड़ियों और घरौंदों के खिलवाड़ के दिनों में ही, गुलबिया का किसी के साथ गठबन्धन हो गया था। किन्तु आज जब रूप-यौवन की हहराती हुई नदी उमड़ कर कूल कगारे तक छा लेने चली आ रही थी, गुलबिया अपने वैधव्य के काले आँचल से, फूटे हुए यौवन के गुलाबी रंग को ढाँक रखने के लिए बाध्य कर दी गयी। वह क्या जाने, कैसे सिंदूर की चमचमाती हुई टिकुली माथे पर देकर, पैरों में छम-छम करते हुए बिछुए पहिने वह कब सुहाग से भरी पुरी इठलाकर चली थी ? कब उसकी चुनरी की लाली पर रुपहला तार निछावर हुआ था, और कब उसने घूँघट की आड़ से उस बाँके रसिया पर अपनी मद भरी चितवन के तीर छोड़े थे ? लेकिन आज तो सिंगार की दुनिया से निर्वासित होकर भी, कभी उसका नन्हा सा मन, चंचल यौवन की आँधी उड़ा ही ले जाती है। लाख कोशिश करने पर भी वह उसे रोक नहीं पाती। और अपनी अँधेरी कोठरी में ताक पर रक्खे हुए टूटे-से शीशे में जब वह अपना मुँह देख लेती है, तो उसका जी

बरबस चाहने लगता है कि वह अपनी बड़ी-बड़ी उन गोल कटोरो सी आँखों में ज़रा सा काजल आँज ले, अपने काले भौंराले बालों के बीच माँग में सिंदूर की लाल-लाल चमचमाती हुई रेखा खींच ले। कभी-कभी रंग बिरंगी ओढ़नी ओढ़ लेने को वह तरस उठती है। आखिर आदमी तो वह भी है। आदमियों जैसा मन उसके भी तो है, और उस मन में जवानी की हिलोरें उठना ही चाहें। तो फिर कभी, वह अपनी छोटी सी पिटारी में जतन से रक्खी हुई काजल की डिबिया खोलकर आँखों को आँज लेती, पैसे का नारियल का तेल बालों में डाल पटिया पार लेती, और पड़ोस के पंडित की बहू के घर जाकर उनकी धोती रँगने के बहाने 'निचुड़े हुए रंगीन पानी में अपना भी दुपट्टा भिगोकर'—"लाओ भौजी, तुम्हारे हाथ रचाने के लिए मेंहदी पीस दू"—कहती हुई मेंहदी पीस, अपनी भी हथेलियों को लाल-लाल रची देख, मन ही मन खुश होकर, जब वह बहूरानी के यहाँ पंखा खींचने जाती, तब जो कहीं मुरली उसे चाव भरी चितवन से देख प्यार से मुस्कराकर कह उठता—"ओहो! मेरी गुलबिया! आज किसको यह बाँकी अदा दिखाकर घायल करने का इरादा है ..?"

तो गुलबिया निहाल हो जाती!

जल जलाती हुई दोपहरी—गरमी अपने गरम-स्पर्श से मानवों को क्या, प्राणी मात्र को बेचैन किए दे रही थी। लू के थपेड़े तिलमिलाते हुए निकल रहे थे। धूप अपने चटकीले यौवन से आँखों को चकाचौंध कर रही थी।

निवाड़ के पलङ्ग पर पड़ी हुई बहूरानी ने पसीने में तर-बतर हड़बड़ा कर आंखें जो खोलीं, तो पङ्खे की डोरी के सामने से गुलबिया को ग़ायब देखा। ग़ुस्से में उबलती हुई बहूरानी पैर पटकती हुई उठीं—बाहर जाकर देखा तो खस की टट्टी के पास, देहरी पर मुरली हाथों में रबर-पाइप लिए बैठा मुस्करा रहा है। और गुलबिया उसके हाथों से पाइप छीनकर उसके मुँह पर बौछार देने की कोशिश में बलखाती हुई खुशी और उल्लास से भरी पड़ रही। है

रानी ने देखा आव न ताव, यह अनर्थ बर्दाश्त करने की शक्ति

सीमा पार कर गई। झपटकर गुलबिया के झोंटे पकड़, धक्का दे झनझनाती हुई बोलीं—"निकल जा कलमुँही, मेरे घर से ! पंखा खींचने आती है कि खसम से नोचा खसोटी करने !"

फिर क्या था बात बाबू साहब तक पहुँची। बाबू साहब काफ़ी उदार थे। सहृदयता उनके चरण छूती थी, दया का वहाँ पारा-वार था।

वह बेचारी ग़रीब और फिर जवान विधवा गुलबिया को अपने घर से कैसे निकाल सकते थे ? सब कुछ सुनकर बहूरानी के क्रोध की आग को शान्त करते हुए सहानुभूति-भरे स्वर में बोले—"रानी, होगा फिर ! अरे ग़रीब हैं तो क्या ? जवानी इनसे भी कुछ कहती है। आखिर इनके भी तो दिल है ! घड़ी भर को हँस बोल लेने दिया करो। और क्या मैं कहूँ रानी ! चाहो तो निकाल दो, लेकिन तुम्हारी दया और कृपा ही इनके जीवन का सहारा है।

रानी की हठ थी—"नहीं, मैं उस चुड़ैल गुलबिया को तो निकाल कर ही दम लूँगी। यह समझती क्या है अपने को। एक दिन का हो तो ग़म खा जा जाऊँ। । रोज़ देखती हूँ बन ठनकर ऐंठती चली आती है। क्या इसी के जवानी फटी पड़ती है ? मुझसे न देखा जाएगा। नौकर रक्खे हैं आराम के लिए न कि इनकी प्रेमलीला हमें देखनी है ?

बाबू साहब ने निष्पक्ष निर्णय कर दिया—"अच्छा तुम्हारी ज़िद है तो मुरली को ही निकाल दो। गुलबिया से तुम्हें ज्यादा आराम है। तुम्हारे पैर भी दबाती है। और ख़स की टट्टी तर करने का अब समय भी जा ही रहा है, फिर मुरली की क्या ज़रूरत।

बहूरानी का बुखार तो गुलबिया के ऊपर ही था। लेकिन बाबू साहब थे सहृदय, समझाया—"मुरली ठहरा मर्द ज़ात, उसे बीसों नौकरियाँ मिल जाएँगी। गुलबिया बेचारी ग़रीब विधवा, उसके कोई न कोई, कहाँ जाएगी दर-दर की ठोकरें खाने। तुम्हीं समझो, उसकी हालत पर तरस खाओ। उस पर क्या ग़ुस्सा ! वह तो तुम्हारे ही आसरे है।"

नाक भौं चढ़ाए मुँह फुलाए, बहूरानी ने बाबू साहब का निर्णय स्वीकार कर लिया। दूसरे ही दिन बाबूजी ने मुरली को बुलाकर बर्खास्त कर दिया।

गुसलख़ाने के पासवाले ज़ीने से उतरते हुए मुरली को, धोती छाँटती हुई गुलबिया ने झँझरी में से देखा, और चट धोती वहीं डाल वह दौड़ गई। मुरली ठिठककर खड़ा हो रहा। उसकी जल-भरी आँखें चमक उठीं।

"जा रहे हो मुरली?" उसकी आँसू-भरी आँखों में अपनी कोमल आँखें डाल गुलबिया ने विकल होकर पूछा।

"गुलाबो?"—उसकी नरम बाहों में अपनी काँपती बाहें डालकर मुरली ने दर्द-भरे स्वर में कहा, और उसके मौन-गम्भीर प्यार के आँसुओं ने टपककर गुलाबो के उदास गालों को चूम लिया।

क्षण भर में ही इस जाते हुए सुख को अलग कर मुरली ने क़दम आगे बढ़ा दिए। एक बार गर्दन पीछे घुमाकर भर्राए हुए स्वर में बोला—"गुलाबी, मेरी याद तुझे आएगी?"

सिसकती हुई गुलाबी ने अपनी मैली ओढ़नी के छोर से आँखें पोंछ लीं।

खट-खट जीने से उतर गया मुरली!

और एक लम्बी आह भरकर, आँखों से ओझल होते हुए मुरली को देखती रही गुलबिया—देखती रही, फिर लौट आई उसी गुसल-ख़ाने में। किन्तु न जाने क्या था, जो वह गुलबिया के हाथों से रोज़ छाँटनेवाली धोती भी उस दिन उससे निचोड़ी न गई, जैसे वह बरसों की बीमार हो।

नाश्ते की तश्तरी ज्यों ही गुलबिया ने बाबू साहब की टेबिल पर रक्खी, बाबू के ललचाये हुए नेत्र उसके मुरझाए हुए चेहरे पर गड़ से गए—"क्यों गुलाबो, कैसी हो रही है?"—दृष्टि ने वाणी का रूप धर कर पूछा। हाथों ने उसकी मृदुल हथेलियों को दबाते हुए सस्नेह पूछा—"ओह! क्या यही उठती हुई जवानी है?"

अब तो गुलबिया के लिए बंगाल केमिकल का 'रोज़क्रीम' और

'पाउडर' मैसूर का 'सन्दल सोप', 'कामिनिया आयल' और राज सोहाग बिन्दी के पैकेट के पैकेट हाज़िर रहते, लेकिन फिर भी न जाने क्यों गुलबिया के खुशनुमा चेहरे पर एक दर्द भरे उलाहने की छाया सजीव होकर अंकित रहती है।

और बाबू के प्रेम की गुलाबी-सुरा, वैभव की रुपहली चाँदनी और यौवन की सुनहली रँगरेलियों में डूबकर भी, गुलबिया का नन्हा सा हृदय बाबू में न समा पाया! न समा पाया!! उसके उदास मुँह पर रोती हुई फीकी मुस्कराहट मानों दौड़-दौड़कर कहती थी कि उसका अस्तित्व कितना ही छोटा क्यों न हो, पर उसमें न जाने कितनी सीमाएँ डूबी हुई हैं। उसके दरिद्र यौवन की अनमोल निधियाँ जिस पर न्योछावर हुई थीं वह तो था मुरली! हाँ मुरली! जिसके मात्र निःस्वन से उसका त्रिभुवन गूँज उठता था।

भावुक

"ले, जा, ये चार बीड़े पान उन दोनों को भी दे आ, कब से उस किनारे बैठे हैं बेचारे!"—हँसती हुई लवङ्ग ने मुक्ता को संकेत से जिधर दोनों युवक बैठे थे, बताते हुए, उसके हाथ में बीड़े थमाकर कहा।

"तुम भी चलो लवङ्ग!" शर्म-भरी मुस्कराहट से मुक्ता ने उसका आँचल खींचते हुए कहा।

"तो तू ही क्यों नहीं दे आती!"—लवङ्ग के स्वर में मधुर आदेश की हास-सी ध्वनि थी।

"मैं अकेले नहीं लवङ्ग।"—ठुनुकते हुए मुक्ता बोली।

"मैं कहती हूँ, दे आ, तू कोई पका आम तो है नहीं कि वह तुझे मुँह में रख लेंगे? जा!"—उसे मीठी फटकार बता आगे ढकेलते हुए लवङ्ग ने बात पूरी की।

गोल-मटोल गेहुँए रंग की बड़ी-बड़ी आँखोंवाली सप्तदश-वर्षीया मुक्ता धीरे-धीरे ठिठकती, बलखाती जा पहुँची उन दोनों युवकों के पास। एक अदा से उनके हाथ में गिलौरियाँ देती हुई उसने सिर झुकाकर नमस्ते किया। यह सभ्यतावश अनिवार्य था।

उनमें से एक, जो क़द में लम्बा, आयु में दूसरे से कुछ बड़ा मालूम पड़ता था, मुस्कराकर बोला—"शुक्रिया!" और दूसरा—जो कुछ भावों में डूबा-सा जान पड़ा—चुप जाने कैसा-सा बैठा रह गया।

मुक्ता मन्दगति से लौट आयी। लवङ्ग बरामदे में खम्भे की आड़ खड़ी मुस्करा रही थी। थोड़ी देर बाद ही दोनों युवक उठकर चल दिए। बाहर आते ही सुधीर ने, जो शरद से बड़ा था, उसके कन्धों पर हाथ रखते हुए मुस्कराकर पूछा—"कुछ देखा?"

"कुछ न पूछ यार!"—शरद ने अपनी अधखुली पलकों के बीच से देखकर जैसे उत्तर दिया—हृदय के रस से भीना-सा।

"क्या जादू चल गया?"—रहस्यपूर्ण हँमी हँसा सुधीर।

"लात खाएगा क्या?"—एक रस-भरी मुस्कराहट से होंठों को चाबकर शरद ने कहा।

इतने में सामने से एक ताँगा आता दिखाई पड़ा, सुधीर ने उसे पुकार लिया, और दोनों उस पर सवार हो लिए।

बातों का क्रम चल रहा था। सुधार कह रहा था—"यह व्यर्थ के सपने पालकर क्या पाओगे शरद, जीवन में कितनी तसवीरें आती हैं, मिट जाती हैं। मिलता क्या है? एक वेदनामयी अनुभूति! जो है, उसी में अपने को रमा लो। और फिर जिन चंचल तितलियों को उड़ते फिरते देख तुम मुग्ध होते हो, उन्हीं के पंखों से बँधकर रहना तो सुखकर भी नहीं हो सकता?"

"सुधीर"—गम्भीर स्वर में शरद ने कहा—"सब समझता हूँ, तुम्हारा तर्क ठीक है। पर न जाने क्यों हृदय उसे चाहने लगा है। कोई आकर्षण उस ओर खींचता ही है, मैं क्या करूँ?" उसके उत्तर में एक विवशता, आर्द्रता भरी हुई थी।

"लेकिन अपने कर्त्तव्य को तो सोचो शरद।" सुधीर ने ज़ोर देते हुए कहा।

"ख़ूब सोचा है सुधीर, मेरा हृदय उस सोचने को ग्रहण ही नहीं करता। सोचता हूँ, शायद इस रूप में जीवन के अभाव की पूर्त्ति हो जाय।" एक लम्बी साँस खींचकर शरद ने कहा।

× × ×

कुछ दिनों बाद एक दिन सवेरे स्कूल जाते समय मुक्ता लवङ्ग से मिली— वह अपनी फुलवाड़ी में खड़ी थी। मुस्कराती हुई मुक्ता आई, उसके कन्धों पर हाथ रख कान के पास मुँह ले जाकर धीरे से बोली— "उस दिन से भइया के साथ वह कई बार आए लवङ्ग क्या बात है?"—मुक्ता ने एक अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा।

लवङ्ग हँस पड़ी—"तुझे चाहने लगा है वह मुक्ता, इसीलिए तो तुझे मैंने उस दिन पान देने के लिए भेजा था कि तुम्हारी उसकी दो-चार बातें हो जाएँ। बड़ा भावुक है। तू उसे अपना ले, तो उसकी ज़िन्दगी हरी हो जाए!"

"चल, तुझे ऐसा ही मज़ाक़ सूझा करता है!"

"तो तुझे ज़रा भी आकर्षण नहीं? कितना सुन्दर कलाकार है। उसकी रचनाएँ कितनी सजीव, भावपूर्ण, कितनी सुन्दर होती हैं। तूने तो देखी हैं?"

"मु···झे ··क्या···करना···?"—इठलाकर, इतराकर मुक्ता ने कहा।

"हाँ,···वहाँ पर तो दूसरे का क़ब्ज़ा है····क्यों!?" लवङ्ग एक अर्थपूर्ण हँसी हँसी।

"क्यों बना रही हो लवङ्ग?" मुक्ता लाज से लाल होती हुई बोली, उसकी पलकें झुक गयीं जैसे उसके हृदय के सारे भेद को, सारे प्रेम को ढँकती हुई-सी!

"तो क्या मैं झूठ थोड़े ही कहती हूँ। उस ललित की वीणा पर कौन सी जान से न्योछावर है? मुझसे भी छिपाती है?"

"तो क्या यह बुरा है लवङ्ग?"—मुक्ता ने अपनी संकोचभरी

बड़ी-बड़ी पलकें ऊपर उठाकर पूछा। उस चितवन में थी एक प्रेम की स्निग्धता, प्रणय का उल्लाह।

"मैं कब कहती हूँ मुक्ता! उस मधु में कितनी मिठास है, यह तो भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। प्रेम ही तो जीवन है; जिसने कभी प्रेम नहीं किया, वह मनुष्य नहीं।"

"लेकिन 'वह' हैं कुछ मजे के आदमी। भावों में डूबे-से, किसी अज्ञात व्यथा से लिपटे-से बोलते हैं, तो उनकी बातें दिल में घर कर जाती हैं।"

"हूँ...कुछ ऐसा ही है!"

"अच्छा, अब चलती हूँ स्कूल की देर हो रही है।" कहकर झट-पट मुक्ता चल दी।

लवङ्ग देर तक खड़ी सोचती रही—कैसी विचित्र बात है। मुरला से बहुत अधिक सुन्दर तो यह मुक्ता है नहीं, किन्तु क्यों शरद इसकी ओर आकर्षित है? क्यों वह नई-नई शादी होते ही टूट गया है? क्या है जो उसे मुरला में नहीं मिल सका और वह अन्य सौन्दर्य की पुतलियों में तृप्ति के प्रसाधन खोजता-सा फिरता है, पागल-सा युवक। किन्तु क्या मुरला के रहते वह इसे पा सकेगा? समाज इसे आसानी से तो सहन कर न सकेगा। किन्तु वह मुक्ता को चाहने लगा है, उसके हृदय-पट पर मुक्ता की मूर्ति ही सजीव हो पड़ी है। अच्छा है, उसका प्रेम सफल हो। किन्तु मुक्ता तो.....कुछ यों ही सोचती-सोचती लवङ्ग घर के अन्दर चली गई।

× × ×

कल दोपहर मुक्ता की माँ लवङ्ग के यहाँ आई। मुक्ता के बचपन में ही उसके पिता उसे और एक लड़के को छोड़कर चल बसे थे। इन्हीं दोनों पुत्र-पुत्री को लेकर मुक्ता की माँ ने वैधव्य का भारी दुःख सहन किया। मुक्ता के पिता कोई विशेष सम्पत्ति तो छोड़ नहीं गए थे। दो मकान थे, जिनके किराये से किसी प्रकार गृहस्थी का पालन होता रहा। बाद में मुक्ता के भाई के एक आफ़िस में क्लर्क होने पर जीवन-निर्वाह किसी प्रकार होने लगा। लेकिन जब से मुक्ता विवाह योग्य

हुई, मुक्ता की माँ का खाया-पिया नहीं पचता—दिन-रात एक चिन्ता सवार रहती। सयानी लड़की हिन्दू के घर में एक दुर्वह बोझ है। उसे ब्याहने को काफ़ी रुपयों की आवश्यकता थी। वह चाहती थी, कहीं कम खर्च से ही उसके हाथ पीले कर देती। उसके सामने कठिनाइयों का पहाड़-सा खड़ा था।

हाँ, तो कल दोपहर मुक्ता की माँ जब आई, तो मुक्ता के विवाह की बातें चलीं—मुक्ता की माँ ने लवङ्ग की माँ से उसके लिये अच्छा घर-वर ढूँढ़ देने के लिए विशेष आग्रह किया। लवङ्ग की माँ ने अपने दूर के रिश्ते के भतीजे शरद को बताया—कहा, अच्छा लड़का है। अभी उम्र ही क्या—तेईस-चौबोस वर्ष की—काफ़ी शिक्षित, स्वस्थ, सुघर है। मुक्ता के सब भाँति योग्य है। एक विवाह हो चुका है—सिर्फ यही एक बात ऐसो है, जो तुम्हें शायद पसन्द न हो; लेकिन पत्नो से बनती नहीं, वह उसे एक प्रकार से छोड़ ही चुका है। मैं तो इस सम्बन्ध में कोई बुराई नहीं देखती।

मुक्ता की माँ ने कुछ सोचा—जी ने कुछ आगा-पीछा किया, फिर जी कड़ा करके बोली—"अच्छा तो है, मुझे कोई आपत्ति नहीं। लेकिन उससे भी तो स्वीकृति ले लो। वह राजी हो, तो मैं कर दूँगी।"

लवङ्ग की माँ ने शरद को बुलवाकर पुछवाया—"कहा, लड़की तुम देख हो चुके हो। यदि पसन्द हो तो कह दो। तुम्हारी भी जिन्दगी सुधर जाए, लड़की सर्वगुण-सम्पन्न है।"

शरद ने भी आगा-पीछा सोच—मन में कहा—"मिल जाए, तो इससे बढ़कर क्या। मुरला तो जोवन के किसो पहलू के भी योग्य नहीं है। मुक्ता तो उससे कहीं अच्छी है। क्यों न उसे अपना लूँ? आखिर जीवन की यात्रा एकाकी ही कैसे पूरो होगी?

और शरद ने स्वीकृति दे दो। मुक्ता की माँ के सिर से चिन्ताओं का बोझ उतरा। उसने शुभ मुहूर्त्त में विवाह-तिथि निश्चय कर दी।

इधर मुक्ता ने सोचा—उसके हृदय में एक आँधी-सी उठी—यह क्या हो रहा है? ललित की सुखद मूर्त्ति हृदय-मन्दिर से

हटानी पड़ेगी, उफ़! जीवन में वह सहयागी न बन सकेगा? किन्तु दूसरे ही क्षण—उसकी विचार-धारा रुकी, नई भावना उठी—यदि ललित सङ्गीतज्ञ है, मेरे हृदय को अपने सङ्गीत द्वारा उसने विमुग्ध कर लिया है, तो शरद एक कवि, कलाकार है, वह क्या अपनी कला के सौंदर्य्य द्वारा मुझे खींच न सकेगा? अपने हृदय से मेरे हृदय को जीत न सकेगा? अवश्य, अवश्य। उसके हृदय में बार-बार यह बात उठी और फिर अपने पक्ष का समर्थन ही करा ले गई। और उसने फिर सब कुछ भूलकर, अपने हृदय के स्वप्न-चित्रों को मिटाकर उनमें नवीन रङ्ग भरने शुरू किए। एक नवीन कल्पना से हृदय अभिभूत हो गया। अख़िर अपने सुख के लिए अभागिन माता को कैसे दुखी बनाती। और एक दिन मुक्ता का विवाह शरद के साथ निर्विघ्न सम्पन्न हो गया और वह उसके घर चली गयी।

× × ×

प्रथम रत्रि को प्रबलतम इच्छा रखते हुए भी शरद मुक्ता से वह बात न पूछ सका। पश्चात् एक दिन उसके कोमल कर को अपने हाथों में लेते हुए बोला—"तुमने मुझसे मिलने से पहले कभी किसी को प्यार किया है?"

मुक्ता सिर से पैर तक काँप गई। पता नहीं, उसे अपनी अतीत-घटना की स्मृति हो आयी अथवा उस पर प्रश्न का ऐसा प्रभाव पड़ा। स्वयं शरद भी इसे नहीं जान पाया।

उसने कहा—"मुक्ता, मैं यह केवल सत्य की रक्षा के लिए पूछ रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि सत्य प्रेम को क्या, सम्पूर्ण सम्बन्धों को ही दृढ़ बना देता है।"

मुक्ता कुछ न बोली।

शरद ने फिर कहा—"प्रेम करना कोई बुरी बात थोड़े ही है मुक्ता, और इस अवस्था में तो यह स्वाभाविक है। जो कहते हैं—प्रेम नहीं करते, वे पाखण्डी होते हैं या निर्जीव।"

मुक्ता के मन ने दुहराया—"जो प्रेम नहीं करते, वे पाखण्डी होते हैं या निर्जीव। तो क्या वह कह दे कि उसने प्रेम किया या करती है?"

शरद ने सोचपूर्ण मुद्रा में मुक्ता को देखा, तो कहने लगा—मैंने भी कई लड़कियों को प्यार किया है—वह मुस्कराया—एक मूर्त्ति, जिसके नाम के आकर्षण को हृदय नहीं मिटा सका, और कभी-कभी उसकी स्मृति टीस उठती है—अबकी वह गम्भीर हो गया।

मुक्ता का मुँह उतर गया, पता नहीं, शरद् ने उसे देखा या नहीं?

उसने फिर कहना आरम्भ किया—"परन्तु मुक्ता, कुछ नहीं। वे घटनायें अतीत के गर्भ में विलीन हो गयीं। मैं अब उन्हें भूल गया। हाँ, कह देने से मेरा जी अवश्य हल्का हो जाएगा।"

फिर कुछ, ठहरकर—"मैं रूढ़ियों को नहीं मानता कि प्रेम एक अपरिवर्तनशील वस्तु है।"

शरद ने मुक्ता को देखकर उसे छेड़ा—कहा, "अब तो तुम्हें देखकर किसी और को देखने की इच्छा ही नहीं रही मुक्ता।"

मुक्ता ने अपने मुँह पर का आँचल खींच लिया। शरद ने उसे हटाते हुए कहा—"अब मेरी धारणा है कि किसी और को प्यार नहीं करूँगा। तुम क्या कहती हो?"

"..........."

"बोलो।"

"क्या?"

"कि तुम मुझे अपना प्रेमपात्र बनाए रहोगी?"

मुक्ता ने सजल नेत्रों से शरद की ओर देखा, और कहा—"कहने से क्या होता है?"

"ठीक है।"—कहते हुए शरद ने उसका हाथ चूम लिया।

धीरे-धीरे एक वर्ष बीत गया। और मुक्ता के जीवन में शरद के मधुर प्रणय का वसन्त अपनी समस्त मनोहरता, यौवन की मस्ती और वैभव से इठला उठा था। उसके शिथिल हृदय में प्यार की कोकिला बोल उठी थी मस्ती से—कू...ऊ...ऊ...और उस मस्ती में सब कुछ भूलकर, शरद को अपने प्रेम-बन्धन में कसकर अपनी छोटी-सी सुखपूर्ण गृहस्थी की नाव वह तिराने लगी थी। शरद सोचता—

"यह नारी भी कैसी पहेली है। नारी ही व्यक्ति को बनाती है, नारी ही बिगाड़ती है। एक नारी थी मुरला जिसने उमँगते हुए जीवन को गिरा दिया था। एक आयी है मुक्ता, जो ढहते हुए जीवन को स्थिर बना रही है। अपने इस अधिकार पर गर्व से भर रही है। किन्तु मैं हूँ, जो अपने को निश्चेष्ट पाता हूँ। सारे जीवन के सञ्चय में जैसे कोई सौन्दर्य्य, कोई आनन्द नहीं, विश्व-सङ्गीत की कोई प्रतिध्वनि, कोई हृदय का गम्भीर प्रकाश नहीं दीखता। जैसे मैं रोगी हो गया हूँ और मुझे कोई भोजन रुचता नहीं है। जैसे जीवन के खेल में हार को ही आगे बढ़ाकर चलता आया हूँ। जैसे अपने जीवन के स्वप्नों के महल चकनाचूर करके उसके ढेर पर खड़े होकर हँसता जा रहा हूँ। चुरा-छिपाकर चाहे जितना रोऊँ, अन्दर से चाहे जितनी भारी होऊँ, ऊपर से हलका-हलका बना चल रहा हूँ। संसार के इस समुद्र में ऊपर ही ऊपर लहराता चला जा रहा हूँ; किन्तु जैसे हृदय का लङ्गर बड़ी गहराई में कहीं गड़ा हुआ है। जीवन के इस अभिनय में, खेल के इस आडम्बर में, जैसे हृदय की कोई गहरी कसक छिपी हुई है। मन जैसे गिरता ही है, उसे बहलाने के लिए इस मुक्ता को पाया है-लेकिन यही जैसे सब कुछ-सा नहीं जान पड़ती। यह पूर्णता जैसे मुँह चिढ़ाती है। यह तृप्ति जैसे उमड़-घुमड़कर कहती है—अब और क्या चाहिए? अभी गत दिवसों तक जो सत्य था, वही इन भावनाओं का साथ देकर कहता है, अब और क्या चाहिए? हृदय में अस्थिर भावनायें अपने आप से रार क्यों मचाती हैं"—इन्हीं विचारों के गम्भीर स्रोत उसके हृदय की चट्टान से टकराकर विभिन्न भँवरों की रचना करते हुए उद्दाम वेग से दौड़ा करते। और तब वह और अधिक व्याकुल होकर मुक्ता को अपने प्रेम की बाँहों में जकड़ लेता।

दिन बीत रहे थे।

एक दिन सन्ध्या समय छत पर बैठे हुए शरद से मुक्ता ने आग्रह किया—"तुम्हें कभी मुरला की याद भी आती है?"

"नहीं मुक्ता, उसने तो मेरे सारे जीवन का रस चूस लिया।"—गम्भीर स्वर से उत्तर दिया शरद ने।

"और तुमने जो उसका जीवन नष्ट किया, बेचारी मायके में पड़ी तुम्हारे नाम को रोती होगी ?"

"भरसक प्रयत्न तो मेरा ऐसा नहीं था मुक्ता, मैं तो चाहता था कि वह भी विवाह कर ले। आखिर सभी बातों की एक सीमा होती है !"

"तुमने कभी अपने जीवन का रहस्य नहीं खोला, हमेशा टालते रहे, आज तो कुछ बताओ, तुम्हें बताना ही पड़ेगा।"—उसकी आँखों में आँखें डालकर प्रेम से उसके हाथों को पकड़कर मुक्ता बोली।

"जो बीत गया, मुक्ता" जानकर क्या करोगी मेरी रानी ? मैं तुम्हें अपनी तरह पागल नहीं बनाना चाहता।"—एक धीमा-सा निश्वास छोड़कर उसने उसे अपनी ओर खींच लिया।

"लेकिन दिनों दिन तुम इतने गम्भीर क्यों होते जाते हो ?"—प्रबल स्नेह से मुक्ता ने आग्रह किया।

"नहीं मुक्ता, ऐसा तो नहीं !—जैसे शरद के इस झूठ में शिशु की-सी नग्नता हो, सत्य की-सी सरलता हो।

"जैसे कोई वेदना तुम्हारे हृदय में कसक रही हो।" उसका मुँह कातर होकर निहार रही थी मुक्ता।

शरद के मन में किसी ने कहा—"वेदना को कोई भूल सकता है ? जीवन की प्रथम हार तो सारी जीत पर पानी फेरती जाती है !"

"न बोलोगे ?'

"......"

"तुम्हें मेरी शपथ, बताओ......" मुक्ता की आँखों के कोनों से दो गोल-गोल मोती झाँकने लगे।

"क्या बताऊँ मुक्ता, अपने-आपको अनुभव करता हूँ, देखता हूँ, प्रश्न करता हूँ; किन्तु कुछ स्पष्ट नहीं समझ पाता। मेरी दशा शायद उस बालक-सरीखी है, जो मिठाई के लिए रो-रोकर आँखें फुला लेने पर पहले कड़वी चीज पाए और फिर झल्लाकर उसे फेंक-कर द्विगुणित वेग से रो-रोकर थक जाए। और तब उसे मिठाई मिले, जब वह परिश्रान्त होकर सो जाना चाहता हो—अपनी मिठाई को कसकर मुट्ठी में दबाए हुए।"

उसकी यह शब्द-व्यञ्जना, मार्मिक अभिव्यक्ति, यह हृदय-आन्दोलन का कम्पन, सब एक साथ समुद्र की तरङ्गों को तरह मुक्ता के निस्तब्ध हृदय-उपकूल के पास आ-आकर टूट पड़े। उसके हृदय से उसके शब्द, ध्वनि, भाव-भङ्गी एक दीर्घ निश्वास को भाँति समा जाकर मँडराने लगे। दोनों मूक होकर उस शून्य मूक महाकाश के नीचे बैठे रहे; किन्तु उनके हृदयों में जैसे साँय-साँयकर वायु बह रही हो, टिमटिमा कर तारे कुछ कह रहे हों। एक आर्द्र उदासी वातावरण में थी।

टप-टपकर दो बूँदें शरद के हाथ पर गिर पड़ीं - मुक्ता जल्दी से उन्हें पोंछते हुए उसकी गोद में लुढ़क-सी गयी—शरद ने उसे अपने वक्ष से आबद्ध करते हुए उसके कपोलों को चूम लिया। गले तक आया हुआ आवेग फूट पड़ा—"मुक्ता, मेरी रानी, तुम्हारी-सी देवी पाकर भी तुम्हें प्रसन्न न रख सका! उफ़! मुझ अभिशापित को अपनाकर तुमने भी अपना जीवन ज्वाला से भर लिया! गम्भीर निराशा के समुद्र में आशा की क्षीण धारा-सी सम्बद्ध होकर तुमने किस प्रतिकूल दिशा में अपना जीवन बहा दिया? पतझर में झरे हुए ठूँठ के साथ यह कोमल लतिका लिपटकर कब तक हँस पाएगी— आह! इसका मैंने कुछ विचार न किया?"—अधीर विह्वल होकर सिसक उठा शरद।

थोड़ी देर में मन की उभड़न जब शान्त हो गई, शरद शान्त-संयत होकर स्थिरता से सोचने लगा—ऐसी बात मुँह से क्यों निकल जाती है बेचारी निरपराध बालिका को व्यर्थ दुखी कर क्या पाऊँगा! अब वह अलक्षित भाव से अपने लिए युक्तियाँ और प्रबोध संचय करने लगा। अपनी व्यथा के चारों तरफ़ एक आवरण खोजने की चेष्टा में निरत हो गया।

हृदय के अन्धड़ में मृदु भावनाएँ सिसकियाँ लेती रहतीं। अतीत की मार्मिक स्मृतियों को अन्धकार में ढकेलकर वह तृप्ति की ओर दौड़ जाने की चेष्टा करता; पर संसार के अनन्त सुखों को पाकर भी वह विचलित रहा, उसका जीवन एक अबूझ पहेली की जटिलता ही बना रह गया।

मुक्ता अपने जीवन की करुण विडम्बना पर डबडबाई आँखों

से निहारती, अपनी कभी न सुलझनेवाली उलझन में और गुत्थियाँ डालकर, हताश, व्यथित निश्वास छोड़ कर एकान्त में अचेत-सी गिर पड़ती।

× × ×

डूबते हुए सूर्य के पीछे, संध्या के हृदय की सुरमई छाया में अपनी भावनाओं को जाग्रत कर, मरघट की लपलपाती ज्वाला को अक्षर-अक्षर में बाँधने के लिए, लेखनी लिए हुए शरद भागा जा रहा था—कवि था न वह, दुनिया से अलग का, उसकी कविता का जन्म उसकी अतृप्त ईप्साओं ने ही तो किया था। सत्य को सुन्दर बनाने की अदमनीय आकांक्षा ने ही तो किया था। व्यथित यौवन में पगली भावनाओं से उद्वेलित शरद, नदी के किनारे पहुँचकर बैठ गया—शान्ति की खोज में विक्षिप्त-सा। घुँघराले केश हवा में शिथिल बिखर रहे थे, आँखें रक्ताभ, सद्य-स्नात-सी, शून्य में टकटकी बाँधे हुए थीं—लेखनी एक ओर निर्जीव पड़ी थी, और वह पागलों की तरह रो रहा था—"तुम चली गईं...? तुम मुझे प्यार करती थीं... दुनिया भले ही तुम्हें देखने न दे, लेकिन कभी यह सम्भव भी है मेरे लिए? हृदय को जिसके प्यार ने रँग दिया, वह किसी प्रकार भी प्रकाश पाने पर कोरा नहीं दिखाई पड़ सकता। उसमें पट-परिवर्तन भले ही हो जाए; पर वह परदा तो चित्रित ही रहेगा... उफ़... कैसा है मेरा जीवन,... 'छाया', 'छाया', तुमने एक दिन मेरे प्रेम का पथ-निर्देश किया था...... आज मुझसे दूर होकर भी छाया-सी मेरे समीप हो मेरी 'छाया'!! तुम चली गई? देवी! मुरला राक्षसी ने मेरा जीवन धूल में मिला दिया। और आज आहत हृदय को सहलानेवाली मुक्ता—कैसे मेरे जीवन के रेगिस्तान में, साथ चलकर पथ अतिक्रमण करे? कैसे उसके कण्ठ से कण्ठ मिलाकर सुहाग का राग गाऊँ?"

दुर्भेद्य निविड़ अन्धकार के कठिन आवरण को चीरकर, दो-एक टिमटिमाती तारिकायें उसी के समान सजल नेत्रों से ताकती हुई निकल आईं, तो जैसे सोते से जागा शरद—बेहोशी की सीमा से दूर हटता तेज़ी से घर की ओर भागा। नित्य का उसका यह क्रम था। यही

आकर तो उसकी अन्तर्मुखी ज्वाला को पल-भर को शान्ति मिलती, मरघट की ज्वाला में ही तो उसकी मन की वृत्तियाँ विराम पाती थीं।

घर आकर देखा, तो मुक्ता उस आभाहीन रात्रि में, हृदय में जाने कितनी बीते हुए दिनों की हँसती-रोती घड़ियों की स्मृति और वर्तमान की दर्द भरी हूक लिए—उच्छ्वासों के साथ अपने जीवन की पहेली सुलझा रही थी अथवा कौन जाने ?

शरद के आने की आहट पाकर उसने मुँह फेरा—करुण स्वर-लहरी झनझना उठी—"कहाँ चले जाते हो तुम ?"

उसके माथे पर की बिखरी अलक-राशि को अपरिमित स्नेह और व्यथा से ऊपर की ओर हटाते हुए मुक्ता ने सजल नयनों से निहारते कहा—"क्या हो गया है तुम्हें, हाय ! मुझसे भी तुम्हें, बजाय सुख के दुख ही मिला !"

उसे अंकपाश में आबद्ध करते हुए भरे कण्ठस्वर को साफ़ कर मधुर स्वर से शरद बोला—"छिः, पगली, इतनी जल्दी व्याकुल हो जाती है। जीवन में जिसे कहीं शान्ति न मिली, उस अभागे को तुम्हारे सिवा कौन अवलम्ब है मुक्ता ?"

मुक्ता की अधखुली पलकें झुक गई, मुस्कराहट से गीले होंठ कुछ प्रस्फुटित हुए, और शरद ने उसे अपने बाहुपाश में कस लिया।

इसी तरह कितने ही दिन और बीते। दोनों चिन्तन में लीन रहते, हृदय जोरों से श्वास छोड़ता, अन्तर धधकता हुआ जलता, दोनों की आत्मायें बिना बोले हुए प्रश्नोत्तर करतीं। शरद के व्यवहार में लेश-मात्र भी रोष, घृणा तथा विरक्ति न झलकती; लेकिन फिर भी वह अक्सर मूक रहता, कोई अशान्ति उसकी प्रत्येक स्थिति-गति के प्रति मूर्त्त रहती, कोई असन्तोष, अभाव की काली छाया उसे अपने में समा लेना चाहती। यह बात नहीं कि वह मुक्ता को चाहता नहीं था। कभी-कभी तो प्रेमाश्रु से कण्ठस्वर तक भिगोकर वह कहता—"मुक्ता, मुझे जीवन में बहुत......लेकिन नहीं, तुम तो मुझसे घृणा नहीं करती हो ? जीवन के अन्तिम श्वास तक अपने प्रेम का पात्र बनाए रहोगी ? बोलो मुक्ता !"

मुक्ता उसकी इस अत्यधिक भावुकता से व्याकुल होकर कहती—"तुम कैसे हो ? मैं तुम्हारी हूँ, तुम्हारे जीवन के प्रत्येक श्वास के साथ मेरा सम्बन्ध है। दीन-दुनिया सबको भूल मैं तो अब केवल तुमको ही जानती हूँ।"

लेकिन फिर...देखती... एकान्त कमरे में पड़ा वह रो रहा है। तकिया तर हो गया है, आँसुओं का समुद्र उमड़ा पड़ रहा है। वह काँप उठती, उफ़, यह कौन सा रोदन इसके अन्तराल में छिपा पड़ा है ? कौन जाने ? उसे चैतन्य कर पूछती—"तुम्हें क्या हो गया है, नहीं बताओगे ?" तो वह झट उठकर कहता—"कुछ भी नहीं मुक्ता, यह जी ऐसे ही भारी हो गया था ज़रा।" और फिर मन में सोचता—"उफ़ ! एक एकान्त कमरे में चुपचाप पड़ा भी नहीं रह सकता ? कैसी विडम्बना है !"

× × ×

शाम के चार बजे लवङ्ग मुक्ता की माँ आदि को लेकर मुक्ता के घर पहुँची। तमाम खोज हुई, सारा शहर छान डाला गया, कहीं शरद का पता न था। दिन-भर के उपवास और असीम मानस-मन्थन से अत्यन्त श्रान्त-क्लान्त होकर बेजान-सी मुक्ता ज़मीन में लुढ़की पड़ी थी। निस्तब्ध गम्भीर रात में वह असहाय मुक्ता को अकेला छोड़कर न जाने किधर निकल गया था। विस्मित, व्यथित, स्तब्ध मुक्ता अपना समस्त वैभव लुटाकर ठगी-सी बैठी थी। घर में एक नग्न शून्यता साँय-साँय करती-सी फैल रही थी, सब जहाँ का तहाँ विशृङ्खल। इतनी सारी दुनिया में वह कहाँ जायेगी, क्या करेगी, यह सब बिना सोचे-विचारे ही शरद घर से सब बन्धन तोड़ निकल भागा—निरुपाय, निराश्रित नारी को संसार के दुर्गम पथ पर अकेली यात्रा करने के लिए, बिना कुछ कहे, बिना किसी लक्ष्य के वह चला गया। कहाँ गया ? सो भी कौन जाने ?

कुचला मातृत्व

सड़क के दोनों ओर रच-रचकर उठाई हुई विशाल अट्टालिकाएँ, दूकानों में चमचमाती हुई थालियों में सजी रंगीन सुगन्धित मिठाइयों का अम्बार, और ऊपर से बिजली की बत्तियों की चकाचौंध करनेवाली जगमग आभा। झलमल-झलमल करते हुए रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्रों की ठसाठस, दमकते हुए बर्त्तनों की मधुर खन-खन झन-झन, तरह-तरह के आकर्षक सुन्दर खिलौनों की सजावट, और लक़दक़ करते सुन्दर वस्त्रों में लिपटे हुए सभ्य मनुष्यों की क़तारें—उनके निकट से इत्र की लपटती हुई गमक, और आँधी की तरह सन-सन करती मोटरों की भों-पों—सभी तो जैसे गर्व से खिलखिलाती, दूर से मुँह चिढ़ाती कह रही थीं—हः हः हः है तुम्हारी यह स्पर्द्धा कि तुम हमारे निकट आ सको ?

थकान से मन-मन भर के बोझिल पैरों को घसीटती हुई, जमुना पस्त होकर अगला क़दम रखते ही रो उठी। चप्पल में निकली हुई महीन कील की नोक ने उसके पैर को क्षतविक्षत कर दिया था। शरीर का भार वहन करने की असमर्थता से, एकदम से घिरे हुए उसके उच्छ्वास घनघोर होकर बरस ही तो पड़े। आँसुओं का आवेश उसके रोके न रुका। आँचल के एक ज़रा से कोने को, सब की आँख बचा, जमुना ने चुपके से आँखों की कोर से लगा लिया।

मोहन ने पुस्तक-भंडार के सामने ज़रा-सा रुक, जमुना की उँगली खींच कहा—"अम्मा एक किताब ! चाहे एक ही आनेवाली ले दो !" उसके भोले मुखड़े, निश्चल आँखों के कातर अनुनय को देखते ही जमुना को भीतर से फुफकारती हुई हज़ार-हज़ार नागिनों ने जैसे एक-बारगी ही डस लिया !

"अच्छा बेटा, आगे चल" !—मानों क़ब्र के अन्दर से किसी ने गुनगुना दिया हो। और मोहन की उँगली को एक शिथिल-सा खिंचाव मिला।

घर-घर करती सामने से 'हैपी ब्वाय' की गाड़ी जैसे जान-बूझकर रास्ते में आ अड़ जाती है।

"अम्मा, हैपी ब्वाय!" चम्पा के उछाह-भरे शब्दों की गूँज कैसी संकोचपूर्ण मनुहार लेकर मातृत्व के चारों ओर परिव्याप्त हो गई।

"बाबू से कह, मेरे पास पैसा नहीं!"—भराए हुए स्वर से होठों को दाँतों से दबाकर जमुना ने जल्दी से कह दिया, और फिर वही भारी फफकन, कठिन उमड़न!

आगे चलते हुए बाबू ने चम्पा को आँख निकालकर डाँट दिया—"रास्ता चलते माँगने की तेरी कैसी आदत पड़ गई है? चल चुपचाप अभी, आगे ले देंगे।"

चम्पा ने मुँह फुला लिया, और पैर पटकती हुई आगे बढ़ी। मोहन मुँह लटकाये, निश्चेष्ट गति से चल रहा था।

"सन्तरा नागपुर के, मिठाईवाले केले!" और बाबू की गोद में छब्बू हाथ लपकाकर मचल उठा—"छन्तला लेंगे, अले छन्तला!"

"खट्टे हैं बेटा, आगे चल, मीठी-मीठी बरफ़ी ले देंगे"—कहकर बाबू ने अपनी रफ़्तार तेज़ कर दी।

और फिर जमुना, उसकी उँगली पकड़े चम्पा, उसके आगे मोहन भी अपने पैरों को खींचते चले।

× × ×

नीची अँधेरी कोठरी में, गोबर मिट्टी की बास से भरी हुई सीली ज़मीन पर, एक फटे बिछौने पर पड़ी प्रसव-पीड़ा से छटपटा रही थी जमुना—"हाय! हाय राम!! अब नहीं सहा जाता!!! इतना दुःख, इतनी तकलीफ़ हम औरतों के ही नसीब में क्यों? हाय! इतनी मुसीबत झेल के भी क्या सुख पाएगी वह? क्या लाभ उठाती है वह? तीन-चार तो खेल रहे हैं आँगन में। इतनों के लिए आराम के साधन कौन कहे, खाने पहिनने के लिए तो वह जुटा ही नहीं पाती है? किसी के पास जूते नहीं हैं, तो कोई फटा कुरता पहिने घूम रहा है। दूध के बजाय दाल भात ही दोनों जून नसीब होते जाएँ तो भी ग़नीमत है। क्या इन नन्हें-नन्हें सुन्दर खिलौनों को सजाने के स्थान का

अभाव उसे शूल की तरह नहीं खटकता ? कौन-सा आनन्द वह पा रही है ? तिस पर भी तो वह फिर उसी तकलीफ़ को जान-बूझकर मोल लेने जा रही है ! हाय ! कौन है इस कष्ट को बँटानेवाला ? नारी क्या केवल पुरुषों के उपभोग की ही साधन है ? मातृत्व के महान् पद की दुहाई देकर उसके ही दुर्बल कन्धों पर सन्तानों का दुर्वह भार लादकर, क्यों पुरुष सुखी और सन्तुष्ट रहते हैं ? हाय ! क्या सारा क़सूर उसका ही है ? लेकिन उसकी तो अनिच्छा से इन सन्तानों की सृष्टि हुई है। पति की, अपने शरीर की, भूख की तृप्ति के सिवाय किसी क्षण उसने मधुर आकर्षण का अनुभव नहीं कर पाया ! जैसे नित्यप्रति का एक उत्साहहीन क्रम हो...हाय...दर्द के लहराते हुए समुद्र के साथ विचारों की आवृत्ति-गति भी तेज़ी से बढ़ रही थी।

भयंकर पीर उठी—सिर चक्रवात के झोंके सा चक्कर खाकर घूम गया। आँखों के सामने अंधकार की दीवार सी खड़ी होगई। एक कातर चीख़ निकली—"अरे राम ! मरी !! हाय !!! ऐसी तकलीफ़ से प्राण निकल जाएँ तो अच्छा है।"

दूर खड़ी ननदों ने कौतुक से मुस्कराते हुए कहा—"भैया के पास जाते तो बड़ा अच्छा लगा होगा।"

सास तीखे स्वर में भँवें चढ़ाकर बोली—"अरे ज़रा सह भी, ऐसी तो नन्हीं नहीं है, तीन चार बच्चों की माँ हुई ! ऐसे नख़रे नहीं अच्छे लगते। मर्द को दिखाती है, तो मर्द नहीं देखने के, उन्हें क्या परवाह !"

जमुना ने घने क्रन्दन के वेग को दबाने का प्रयत्न किया। नहाई हुई पलकों से टप-टप पानी की बूँदों के साथ, स्याह पड़ते हुए होंठों को बरबस दाँतों से दबा, अपने शरीर का भार पृथ्वी पर बिखेरकर वह निस्तब्ध हो रही।

प्रसव वेदना निरन्तर ऊधम मचाती हुई डोल रही थी। रात उसे तड़पते ही बीती। सुबह पड़ोस के बाबू ने गोविन्द को बुलाकर कहा—"अरे भाई ! नहीं घर पर लेडी डाक्टर को बुलाने की सामर्थ्य है, तो उसे अस्पताल ही ले जाओ।"

× × ×

अस्पताल में आपरेशन के बाद जमुना के हुआ एक नन्हा-सा लाल गुलाब के समान सुन्दर पुत्र ! अपनी नन्हीं-नन्हीं चमकदार आँखों को पृथ्वी पर खोलते ही वह नन्हें-नन्हें हाथों को फेंककर, किलकारी मारकर रो उठा—किन्तु जीवन मरण की अंतिम समस्या को हल करती हुई, चेतनाशून्य जमुना ने उसे नहीं सुन पाया। सम्भव था, शैशव के उस मोहक प्रतिबिम्ब को अपने कुचले हुए मातृत्व में देखकर उसकी मुरझाई उदास पलकें पुलककर एक बार छलक आतीं !

हसीना

जनवरी का महीना था। सुबह की किरणें कुहासे के घूँघट से, अपना खिला चमचम मुखड़ा निकालती, दुनिया की नजरों से अपनी नज़रें मिला रही थीं। हवा अपनी मस्तानी गति से कोमल हृदयों को सिहरन का संदेश दिए जा रही थी।

हसीना अपनी पतली कमर पर बाँस की एक छोटी टोकरी लिए हरे-भरे खेतों के बीच जा खड़ी हुई। हरी-हरी सरसों ने दुलहिन की तरह लहराती हुई पीली चुनरी ओढ़ ली थी। ओस के हीरों के गहने खूब बहार दे रहे थे। दूर तक सब्ज रंग की शोभा बिखरी पड़ी थी। हसीना खेत की मेंड़ के पास जाकर, टोकरी वहीं रख बैठ गई। लाल रङ्ग की ओढ़नी हरे-हरे पौधों के पास जा लोटने लगी, और वह हरिणी की भाँति, अपनी बड़ी-बड़ी काली आँखों को चंचलता से नचाकर, इधर-उधर दूर तक बीच-बीच में देखती साग तोड़ने लगी। मुश्किल से पन्द्रह-बीस मिनट बीते होंगे, कि अचानक हसीना के कानों को दूर से आती हुई एक मीठी-सी तान सुनाई पड़ी—'चटक रंग-रँग दे मोरी चुनरिया !' हसीना ने चौंककर अपनी गर्दन उठाई। जिधर से आवाज आ रही थी, उसकी आँखें मुस्कराहट की चमक से चौंक-चौंककर उधर ही देखने लगीं। उसकी अंगुलियाँ सरसों की पत्तियों

पर ज्यों की त्यों-धरी रह गई, और वह दूरागत गीत-ध्वनि में अपने आपको खो, बेसुध बैठी रही। दस ही मिनट में दाहिनी ओर के ताल की तरफ़ से गाता, एक बड़ी-सी रोहू कन्धे पर रक्खे सुलतान आता दिखाई पड़ा। हसीना के होठों पर एक सरस मुस्कान फड़क उठी। आँखें प्रसन्नता से चमक उठीं। भावावेग में ओढ़नी फहराती वह उठ खड़ी हो गई। सुलतान नज़दीक आ गया था। हसीना ने कोयल की तरह कूककर पुकारा—'सुलतान!' और फिर खिलखिलाकर धम् से पौधों के बीच छिपकर बैठ गई। सुलतान मुस्कराता हुआ जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाकर उसी जगह पहुँच गया। हरे-हरे पौधों के बीच हसीना की लाल ओढ़नी झाँक रही थी। सुलतान ने मछली वहीं रख दी, और ओढ़नी का छोर पकड़ झट से खींच लिया। हसीना खिलखिलाती हुई उठकर उसकी आँखों पर अपनी हँसती आँखें स्थिर कर बोली—"दूर से तुम्हारे गाने की आवाज सुनकर ही मैं पहचान गई थी।"

सुलतान ने कहा—"और मैंने भी तो तुझे ढूँढ़ निकाला!"

"इतनी बड़ी रोहू!"—मछली की तरफ़ आँखें विस्फारित कर हसीना ने होठ मटकाकर कहा।

"कितने तड़के का निकला हूँ, यह भी न मिलती तो आज दादा मार ही डालते। जानती हो, कितने दिनों से खाली हाथ लौट रहा हूँ!"

"मुझे ले चलो, तो कभी खाली हाथ न लौटो।"—कमल-सी आँखों से सुलतान पर नशीला मधु ढालते हुए, शोखी भरे स्वर से हसीना ने इठलाकर कहा।

"ले चलूँगा हसीना, यह लाल-लाल ओढ़नी रँगी किसलिए है?"—हसरत भरे स्वर में सुलतान ने ओढ़नी से खेलते हुए कहा।

"यह ओढ़नी मुझे बड़ी अच्छी लगती है सुलतान!"—कनखियों से देखती हुई हसीना ने मुस्कराकर कहा।

"और मुझे तुम्हारा वह गीत—'चटक रंग रंग दे मोरी चुनरिया!,"—हसीना के गालों को अपनी दोनों हथेलियों से सहलाते हुए रह-रहकर मुस्करा उठा सुलतान!

"चलो-चलो, रहने भी दो।"—गर्दन टेढ़ी कर, भौंहें नचाती हसीना लजाती-सी बोली—"बड़े शैतान हो तुम!"

उसकी सलोनी मुद्रा देख सुलतान बलिहार हो गया। धूप खिल-खिला उठी, हवा के झोंके भी खिलखिला कर निकल पड़े, और सरसों के फूलों ने तो झुक-झूम कर अपनी सुनहरी हँसी उन पर लोट-पोट ही कर दी। सबका साथ देते, हँसते खिलखिलाते दोनों खेत के बाहर हो गये।

× × ×

गाँव के गलियारे से जब दोनों साथ निकले तो अपने-अपने चौपालों में करबी काटते हुए गँड़ासा हाथ में थामे बूढ़े, एक दूसरे से काना-फूसी कर उठे—"वाह री बेहयाई! हरदम दोनों साथ रहते हैं। जात का रङ्गरेज़ सुलतान, अब्दुल्ला डोम की लौंडिया के पीछे दीवाना है।"

कुएँ पर पानी भरती बूढ़ियाँ भौंहें चढ़ा, होंठ बिचका, बुदबुदा उठीं—"मैया रे! इसी हसिनिया पर मालूम होता है जवानी फटी पड़ती है। ऐसी भी क्या लाग? लाज-शरम सब धो डाली!!"

युवती बहुएँ कण्डे पाथती, घूँघट के भीतर होंठ चाबकर रह गईं। युवक गाय-बैल हाँकते, एक छींटा कसते चल पड़े—'गोरी तोरे नैना...।'

भागनेवाले दिन भागते जा रहे थे। गाँव में हसीना और सुलतान की चर्चा ज़ोर पकड़ती जा रही थी। अब्दुल्ला के कान में भी भनभना-हट पहुँच रही थी। एक दिन हसीना को बाग़ से लकड़ी बीनकर लाने में कुछ देर हो गई; कि वह क्रोध में भरा—लाठी लेकर निकल आया। आव देखा न ताव, भरपूर लाठी हसीना के चौखट पर पैर धरते ही दे मारी। माँ की ममता कब इसे सहन कर सकती थी। लपककर आई—और बेटी को उठा, चिल्ला पड़ी—"क्यों मारा? अरे क्यों मारा? लो, अपना घर-बार लेकर रहो। मेरी बेटी ऐसी मार खाकर कब तक रहेगी? बड़े कहीं के धन्नासेठ हो तो खिलाओ न घर में बैठाल कर! एक जून बिना साग के कौर नहीं उठता।

बाग़ से लकड़ी न लावे तो चूल्हे में आग न पड़े! बैलों का चारा छीलने की भी तो तुममें ताब नहीं है, फिर किस बिरते पर ताव दिखाते हो? खेत ऐसे खेत नहीं, चार घर न कमाऊँ तो खाने को तो जुड़े नहीं! रहो लेकर अपनी अपाहिज महतारी को। चल तो हसीना, मार खाकर नहीं रहना है। जहाँ हाथ-पैर चलावेंगे, रोटी की कमी नहीं।"—और बस हसीना की बाँह पकड़, हसीना की माँ घर से बाहर निकल गई।

पहले तो ग़ुस्से में भरा अब्दुल्ला चौखट पर बैठा देखता रहा। लेकिन जब आँखों से ओझल होकर, वे सामने के खेतों के बीच घुस गईं; तब उसकी आँखों से ग़ुस्से का उबाल जैसे हवा लगते ही पानी होकर झरने लगा। मन में जैसे कोई कोंचकर कहने लगा—'नाहक़ मारा। लड़की की अभी उमर ही क्या! कितना काम करती थी। जाने कहाँ मारी-मारी फिरेगी। ननिहाल में ही कौन बैठा है जो वहाँ जाएँगी। और ठिकाना ही कहाँ? मेरी भी इस बुढ़ौती में छीछालेदर; कौन पीस-पका देगा। बूढ़ी माँ है, तो अपने को अपाहिज। मुझे भी क्या सनक सवार हो गई। अरे यह तो दुनिया है; कहा करती है। अगर वह किसी से हँस-बोल लेती थी तो क्या हुआ! यह तो उमर ही ऐसी होती है। मैं अपने दिन कैसे भूल गया, जब जवानी में तूफ़ान उठा देता था। कहाँ वह जाति की डोम, कहाँ यह रङ्गरेज का लड़का! दुनिया भी ख़ूब उड़ाती रहती है।"—अब्दुल्ला देर तक यों ही बड़-बड़ाता रहा। जब जी का ग़ुबार शान्त हुआ, तो उठकर दौड़ा-दौड़ा गया—"हसीना, ओ हसीना की अम्मा, अरे सुन तो जाओ....!"—उसकी काँपती हुई आवाज़ दूर-दूर खेतों तक गूँजकर लौट आई। हसीना और हसीना की माँ तब तक जमुनीवाला बाग़ पार कर गई थीं। राह-चलते आदमियों ने बूढ़े की रुआसी आवाज सुन, ताने के साथ ठट्ठा मार कर कहा—"अरे अब्दुला, क्यों ख़फ़ा कर दिया, जो माँ-बेटी भागी जा रही हैं, अब मनाए नहीं मानतीं? अरे दौड़ जाओ बाबा, मना लाओ, अभी मिल जाएँगी। बुढ़ौती में काहे को कम्बख़्ती सूझी?"

एक बार अब्दुल्ला को इरादा हुआ कि दौड़ जाकर उन्हें मना

लावे, किन्तु बूढ़े की भी कोई आन थी। ऐसा न होता तो गाँववालों की तानेज़नी से तङ्ग आकर अपनी एकलौती बेटी पर हाथ ही क्यों उठाता! 'अब यों आँखें दिखाकर तलुवे सहलाने दौड़े! नहीं, उससे यह न होगा। जाने दो जहाँ जाती हों। ऐसा भी क्या नखरा, भले के लिए कहो, तो भी बुरा लगे! अब वह नहीं जाता मनाने। जाने दो, आप ही ठोकरें खाकर आयेंगी।'—और इन विचारों के दिमाग़ में घुसते ही, अब्दुल्ला ने अपने क़दम घर की ओर बढ़ा दिये। न किसी से कुछ कहा, न सुना। गम्भीर फ़िलॉसफ़र की तरह अपनी सफ़ेद दाढ़ी और सिर की मैली पगड़ी हिलाता हुआ, धीरे-धीरे आ, चौपाल में बिछे पुआल पर आँखें मूँद पड़ा रहा।

गोधूली अपना सुरमई आँचल फहराती आ गई। गाँव के चरवाहे अपनी गाय-भैंसों के साथ आते दिखाई पड़ने लगे। हसीना की माँ नहर का पुल लाँघकर, सामने के चरागाह को छोड़, पक्की सड़क की ओर जा रही थीं। हठात् सुलतान अपने गाय-बैलों के झुण्ड लिए जाता दीख पड़ा। पहले उसको और हसीना की माँ की नज़र पड़ी, लेकिन वह जान-बूझकर गुस्से में भरी कुछ न बोली। किन्तु ज्योंही हसीना ने देखा, स्वाभाविक चुलबुलेपन से वह बाज़ न आई, बोल उठी—"देख अम्मी, सुलतान उधर से जा रहा है।" माँ झल्ला उठी—"होगा, जाने भी दे।" किन्तु उधर से सुलतान की दृष्टि जैसे ही इधर आई, वह इन्हें देख दौड़ा आया। साश्चर्य बोला—"इस वक़्त कहाँ जा रही हो बुआ?"

हसीना की माँ ने उत्तर दिया—"जा रही हूँ, जहाँ अल्लाह ले जाए!"

सुलतान की आँखें आश्चर्य से विस्फारित हो गईं। वह घबरा कर बोला—"साफ़-साफ़ बतलाओ बुआ, कहाँ जा रही हो? क्यों हसीना क्या हुआ?"—उसने हसीना की तरफ़ मुड़कर कहा।

हसीना की भोली निर्दोष आँखें एक बार फिर अपनी स्वाभाविक अदा से नाच उठीं। उसने कहा—"बुआ से पूछो न?"

तब तक बुआ बोल उठी—"तुम्हारे पीछे मेरी बेटी पर गाँव वाले

उँगलियाँ उठाते हैं। आज तुम्हारे बाबा भी उस पर लाठी लेकर टूट पड़े। तो क्या यह फ़ालतू थोड़े ही है भैया ? मैं इसको लिए, गाँव ही छोड़े जा रही हूँ। मुझको तो पैदा किये की क़लक़ है। वह भले ही गाँव वालों के मुँह में मुँह देकर रहें; मैं नहीं सह सकती। जहाँ जाऊँगी, कमाऊँगी।"

सुलतान की आँखें क्रोध से चढ़ गईं। नथुने फड़क उठे। वह आपे में न रह सका। काँपते होठों से आवाज़ निकली—"तुम यह क्या कर रही हो बुआ! मेरे पीछे दर-दर की ठोकरें खाने जा रही हो ? मुझसे यह न सहा जायगा। चलो तुम मेरे घर पर बैठो; मैं गाँव वालों का मुँह नोच लूँगा। देखूँ किसकी छाती में बड़े-बड़े बाल हैं ?"—सुलतान की श्वास वेग से चल रही थी और मुद्रा व्यस्त हो उठी।

"नहीं भैया, मुझे जाने दे! जब अपना घरवाला ही इस तरह हाथ उठा सकता है तो गाँव वालों की क्या ? तुम जीते रहो, तुमने इतनी तसल्ली तो दी! चलो बेटी चलें!"—कह कर हसीना का हाथ पकड़ बूढ़ी घूम पड़ी।

सुलतान ने आगे आकर राह रोकी—"सुनो तो बुआ, इस वक़्त कहाँ जा रही हो ?"

लेकिन बूढ़ी के तो ताव चढ़ा था। वह न रुकी, सीधे बढ़ती गई। साथ में हसीना को भी घसीटती चली। चिल्लाकर सुलतान ने कहा—"अच्छा यह तो बताती जाओ, किधर जा रही हो ?"

"जहाँ तक सोचती हूँ, आज रात बिजनौर में काटूँगी; आगे अल्लाह मालिक!"

सुल्तान की आँखें भर आईं। हसीना ने मुड़कर देखा, बेबसी अपने सजल भावों से बोली—आँखों में आँखें तैर कर रह गईं! वह आगे बढ़ गई।

सुलतान पीछे रह गया। साँझ भी अपने अन्धकार के उद्वेग को दबाये उच्छ्वास छोड़ बैठी। दूर-दूर के घरों से धुआँ उठने लगा था। हसीना और हसीना की माँ उसी धुएँ के बीच चली जा रही थीं।

× × ×

बस्ती के अँधेरे से भरी गोद में, रोशनी के दो-एक टिमटिमाते हुए छौने खेलने लगे। हसीना माँ की उँगली पकड़े थकी-सी, पक्की सड़क पर चली जा रही थी। सहसा दूर से एक लॉरी के आने की घरघराहट सुनाई पड़ी। हसीना ने अनुनय से कहा—"अम्मी, तू तो थक गई है। मेरी जेब में एक चवन्नी है; तेरे पास भी कुछ पैसे हों, तो मोटर पर सवार हो लें, अब चला नहीं जाता। अभी बड़ी दूर है न ?"

लड़खड़ाती हुई बूढ़ी ने स्वीकार कर लिया था, कमर से बटुआ निकाल टटोलते हुए।

पैंतीस मील की रफ़्तार से दौड़ती हुई लॉरी चली आ रही थी, सूनी सन्नाटे की सड़क पर। ग़र्द और ग़ुबार के बादल उड़ाती आती हुई लॉरी को देख, बीच से घबरा कर हसीना ने ज़ोर से माँ को किनारे की ओर घसीटा, कि एकाएक बूढ़ी बदहवास हो गिर पड़ी—और 'घरघर' की आवाज़ के नीचे एक बेबस, असहाय, कातर 'हाय अल्ला !' की चीख़ ! और बस ख़ून का फ़व्वारा छूट चला !! पल मात्र में झपाटे के साथ लॉरी ने आकर बूढ़ी को अपनी बाँहों में ले लिया, आँतें और भेजा फट पड़ा। हसीना चीख़कर बेहोश हो गई।

माल की लॉरी थी। ड्राइवर ने अँधेरी और सुनसान जगह देख, गाड़ी रोक दी। और आनन्-फ़ानन् बेहोश हसीना को उठाकर गाड़ी में कर, अपने साथी की मदद से बूढ़ी की लाश सड़क के किनारे खेतों में फेंक गाड़ी स्टार्ट कर दी। लॉरी हवा से बातें करने लगी।

अधखिले गुलाब-सी हसीना, मुरझाई चमेली के गुच्छे की तरह, मोटर-ड्राइवर के प्रेम की फूलदानी में रख दी गई। लाल रङ्ग के लहँगे और धानी दुपट्टे में, चमकते हुए गहनों से सजाकर, चाँदी के वर्क़ की गिलौरियों और इत्र की भरी शीशियों से वह ड्राइवर जब हसीना के प्रेम की अभ्यर्थना करता, तो वह स्पन्दनहीन पाषाणप्रतिमा हसीना—ऐसी मालूम पड़ती, जैसे उसकी बरसाती नदी-सी जवानी बालू में डूब गई हो ! उसकी फूलों की दुनिया में जैसे अङ्गार बरस

पड़े हों! उसके बहार से लहराते हुए हृदय को जैसे किसी ने मरघट के सन्नाटे में छोड़ दिया हो !!!

उसके निचोड़े हुए हृदय से तो कोई पूछे, कि कहाँ है उसका वह सुलतान? जिसके लिए एक बार नहीं, तीन-तीन बार ड्राइवर के घर से भागकर, उसने कोड़ों की मार खाई है। और उन अनगिनत चोटों के दाग़ों से भरे शरीर, मन-प्राण को बहलाती हसीना, आज किस दूरदेश में बँधी पड़ी उसके नाम के उज्ज्वल प्रकाश पर अपने अँधेरे जीवन का निर्माल्य चढ़ा रही है! कौन जाने क्यों—नहीं, जानकर भी...।

कल की ही-सा तो ताज़ी बात है; पड़ोसिन से, सुलतान के विषय की जवाबी चिट्ठी चुपके से भेजवाकर, अपने गाँव से उसने पता लगा लिया है—सुलतान की सुन्दर-सी बहू को नन्हा-सा एक बच्चा भी तो हो गया है। हाँ, ..नहीं तो क्या अनजाने ही?

सुखिया

टहल चौका करके सुखिया जब अपने काली राख और चिकनाई से सने हाथों को, ज़रा-सा चोकर लेकर धोने लगी तो नहाकर बालों में हेयर-ग्लेसरीन मलते-मलते कुरसी पर बैठी हुई बहूरानी ने त्योरियों पर बल डालकर झिड़क लगाई—"अरे चुड़ैल, अब हाथों का चिकनाने को सूझी? आठ बजने को हैं घण्टा भर बर्तन मलने में लगा दिया, बाबू के नहाने का पानी कब उठाकर देगी? जब तक इसके गले पर सवार न हो, कम्बख्त अपने मन से कुछ काम नहीं कर सकती। मैं कहाँ तक झींका करूँ?"

डरकर सुखिया ने जल्दी से हाथों का चोकर छुड़ाया, और गरम पानी की बाल्टी लेकर बाबू के बाथ-रूम में रखने दौड़ी। सहसा ऊपर से मुन्नू बाबू ने पुकार मचाई—"भाभी, सुखिया कहाँ मर गई? तीन

घण्टे से हजामत का सामान माँग रहा हूँ, सुनती नहीं।" इधर बहू-रानी की आँखें चढ़ें तब तक सुखिया हजामत का बक्स लेकर ऊपर दौड़ी। आधी टाँग से धोती की लुंगी चढ़ाये, कमर से आँचल लपेटे सुखिया ऊपर पहुँची, कि मुन्नू बाबू ने उसके हाथों से बक्स ले उसकी नन्हीं-नन्हीं छातियों को कसकर मसलते हुए एक विकृत हँसी हँसकर कहा—"जवानी में मस्त हो रही है !" दीन यौवन के उठते हुए अभिशाप को ग़रीब सुखिया अपने आँचल से दबाती हुई, रुआसी ज़ीने से उतर रही थी। उसके हृदय में जैसे किसी ने कसकर घूँसा मार दिया हो। उसका दुबला-पतला शरीर थर-थर काँप रहा था लेकिन वह इस स्थिति में भी कब एक पल रहने पा सकती—नीचे से बेबी को शौच करा देने की कड़ी आवाज़ बीबी जी ने लगाई। और दूसरे ही क्षण वह शौच करा के, गुसलखाने में धोती छाँटने को घुस पड़ी। इतने में बहूरानी की तीखी फटकार फिर पड़ी—"बग़ैर कहे धोती छाँटने क्यों चल दी री ? हरामज़ादी को मर्दों के काम की बड़ी फ़िक्र रहती है। जवानी की मस्ती से मर्दों को ख़ुश करना चाहती है चल, बेबी का दूध बना।"

ओवलटीन का नया डिब्बा खोलते, उसके काँपते हाथों में चाक़ू की पतली धार खप से घुस गई। दो बूँद ख़ून चुपके से आँचल में पोंछ, उसने होठों के अन्दर 'सी' करने का अभ्यास किया, और चटपट अँगीठी की राख उँगली में लपेट दूध बनाकर वह बेबी के पास ले गई।

"इतने गन्दे, राख भरे हाथों से बेबी का दूध, अरे मार डालेगी क्या बेबी को डाइन ? इतनी गन्दगी ? दूध में भी राख भर लाई होगी। ले जा यह दूध, चुड़ैल !" और दाँत पीसते हुए दूध का कटोरा सुखिया के ऊपर ज़ोर से फेंक दिया गया। पैर का अँगूठा कटोरे की धार से कच से कट कर रह गया। छलछलाती हुई भयभीत आँखों से बहूरानी की ओर देखकर वह जल्दी-जल्दी दूध समेटने लगी। तब तक मिसरानी अपनी चादर उतारते हुए धीरे-धीरे आ पहुँचीं। मिस-रानी चूँकि बूढ़ी हैं—ज़ात की ब्राह्मणी हैं। उनके ऊपर इतनी सख़्ती

नहीं होती। बहूरानी मुँह फुलाये बोलीं—"मिसराइन, आज तो खैर छुट्टी का दिन है—फिर भी छुट्टी में मर्दों को कहीं-न-कहीं जाना रहता ही है। तुम इतनी देर करके आओगी, तो कैसे काम चलेगा? अभी पूरा महीना भी नहीं हुआ, और तुम काम में लगीं ढिलाई करने?"

मिसरानी बातों में पटु थी—खीसें निपोर बोली—"नहीं बहूरानी, काम में ढिलाई कैसे होगी? बखत पर पूरा काम न मिले, तो जो चाहो सज़ा दे सकती हो। आज ज़रा सुबह आने में देर हो गई। बहूजी, पड़ोस में रात भर नाच-गाना होता रहा। जी ही तो है, नहीं माना—बैठ गई। उठने में इसी वजह से देर हो गई। आज के लिए माफ़ी दो।"

बहूरानी को चुप रहते देख मिसरानी झटपट चौके में पहुँच गईं। आई गई सुखिया पर उनकी भी बौछार पड़ी—"ओरी कलुई, दाल-चावल कब धोकर देगी, अभी हल्दी भी नहीं पिसी? मुझे देर हो गई, तो तू कहाँ मरती रही?"

सुखिया सूखा मुँह, भरी आँख लिए, जल्दी-जल्दी सिल-बट्टा चला रही है। पैर के अँगूठे से ख़ून निकलकर उसी जगह सूख गया है, हाथ में लाल मिर्च छरछरा रही है, माथे पर छोटे-छोटे गन्दे रूखे बाल छितरा गए हैं। लेकिन इसकी परवा किसे? बाबू को दस बजते न बजते खाना मिल जाना चाहिए, उन्हें शिकार खेलने आज दूर गाँव में जाना है। मुन्नू बाबू ने सुबह चाय के वक़्त ही कह दिया था—आज मैं कबाब की टिकिया खाऊँगा। मिसरानी मांस-मछली बना नहीं सकतीं। उसे ही अलग वह भी बनाना है। उसके मन में थके हुए बटोही की तरह, जल्दी मंज़िल पार करने के विचार उठते हैं, और वह एक, दो, तीन डग करके कितना चल आई है, और कितना बाक़ी है, गिनने लगती है। लेकिन मंज़िल भर चलकर भी उसे किनारा नहीं दीखता है। ओह! सुबह चार बजे की उठी हुई वह गाय की सानी, पानी, दूध दुहना, सबको दातौन, चाय कराकर, बिस्तर समेटना, झाड़ू लगाना, चौका-बर्तन, नहला-धुला, गाली मार खा, अभी रसोई के काम से नहीं उबरी है। अभी छोटे बाबू का कबाब अलग बनाना

है। कितने गुस्सैल हैं वह। कितनी मुस्तैदी से उनका काम वह करती है। हर वक़्त उनसे डरती है। लेकिन आज भी उसकी छाती को किस बुरी तरह से मसल दिया। कभी गालों में चिकोटी काट लेते हैं, कभी हाथों में। वह अन्दर-ही-अन्दर कचोटकर रह जाती है। क्या उसे यह सब अच्छा लगता है ? लेकिन कहे किससे ? बहूरानी हैं, उनके मुँह में हर वक़्त गाली ही रहती है, ज़रा-से काम में ग़लती होने पर मारना सिद्ध है। और तो और, यह मिसराइन भी उस पर झड़प दिखाया ही करती है। और वह पहाड़िया पहरेदार तो रोज़ कहता ही है—"सुखिया, तेरे मिजाज नहीं मिलते हैं। रोज किनारा खींचे अलग कतराई रहती है। जिस दिन तुझे पकड़ पाऊँगा, सारी मस्ती उतार दूँगा। और अगर नहीं मिली, तो समझे रह, बाबू से एक-न-एक अड़ंगा लगाकर तेरी नौकरी तो छुड़वा ही दूँगा।" अब वह क्या करे ? उसकी यह धमकी सुनकर तो वह असहाय ग़रीब लड़की काँप उठती है। काम में जी नहीं लगता। ऐसी सख़्ती देखकर जी में आता है—ऐसी नौकरी पर लात मारे और चल दे। लेकिन बाबू ने उसे ज़बरदस्ती भेजा है। वह काम न करेगी तो बहूरानी के बाप उससे, जो दो-चार बीघा खेत-पात हैं, वह भी छीन लेंगे, और उसके बापू, उसकी बुढ़िया दादी, एक आँख से लाचार अपाहिज बुआ का क्या होगा ? कहाँ से उनका पेट जिएगा ? हाय रे दुर्भाग्य ! सुखिया के मुँह से बरबस एक आह निकल गई।

लेकिन सुखिया के काम के अभ्यस्त हाथ काम पर चलते जाने से नहीं रुकते। उसके विचारों की भीड़ उसके काम में बाधा नहीं डालती। झिड़कियाँ खाती जाती है, चोटें सहती जाती है, कामों का ताँता बँधा हुआ है।

मुन्नू बाबू खाने बैठे, कबाब में ज़रा सा नमक तेज़ हो गया था कि सुखिया की शामत फिर आ गई। चौके से उठकर इन्होंने उसकी पीठ की खासी मरम्मत कर दी। धैर्य्य की भी सीमा होती है, वह कहाँ तक सहन करे—बिलबिलाकर रो पड़ी। लेकिन ग़ुलाम ज़ात को रोने का भी अख़्तियार नहीं। उसी तरह के सड़ाक-सड़ाक शब्द के साथ उसके

रोदन के अजस्र वेग को थामने का हुक्म दिया गया। दर्द से होठों के भीतर सिसकती सुखिया सब के खा-पी चुकने पर फिर चौके टहल में लग गई। किसे परवा है उसके खाने की। बचा तो खा लिया, पेट भर नहीं तो नहीं सही! किसी दिन बिलकुल नहीं बचा तो पेट दबाकर काम तो करना ही है। और फिर आज तो उसके चर्बी ज्यादा बढ़ गई है; काम ठीक नहीं होता, इसकी सज़ा ही यह थी कि खाना न दिया जाय।

चौका-वर्त्तन कर लेनेपर कामों की तालिका वह देख रही थी। बहू-रानी के पैर दबाना, कपड़ों में साबुन लगाना, बच्चों के जूतों में पालिश करना, बीबी जी की धोतियाँ रँगना, गाय का दाना खतम है उसे दरकर भिगोना, कंडे पाथना, झाड़ू बहारू, जाड़े के दिन होते ही कितने बड़े हैं। ग्यारह—और लो बारह भी टन-टन करके हो ही गया। शाम आने पर मिसरानी चौके के लिए आकर आफ़त मचा-येगी। चिराग़-बत्ती, बिस्तर, गाय की सानी-पानी, फिर वही दूध दुहना, खिलाना पिलाना, कहाँ तक वह करे? काम खतम ही नहीं होते। आखिर आज उसने और दिनों से कुछ ज्यादा मार खाई है फिर काम जल्दी क्यों नहीं होते?

सारी देह जैसे दर्द से टूटी-सी जा रही है। पेट में कुछ खरोंच सा रहा है। पर इससे क्या होता है? वह अभी कुछ बूढ़ी तो है नहीं जो उसके हाथ पैर चलाए नहीं चलते।

शाम को तो आना था ही—वह आई। सबने आराम से खाया पिया। पान ताम्बूल से मुख रंजित कर कोई उपन्यास पढ़ने में तल्लीन हो गया तो कोई प्रेम पत्र लिखने में। बीबी जी हारमोनियम लेकर बैठ गईं। बहूरानी बेबी को लेकर लेटीं तो पैर दबाने का हुक्म हुआ। सुखिया सुबह के लिए दाल चावल बीनकर गाय का दाना भिगो रही थी। सर्दी के दिन, तिस पर हवा की सरसराहट और भी अङ्ग अङ्ग में उससे सहानुभूति दिखलाती हुई घुसी जा रही थी। देह पर एक फटी धोती और फटी कुरती के सिवा और था ही क्या? लेकिन उसी जाड़े में उसे तो सब काम दौड़-दौड़कर करना ही है। पैर दबा-

कर खाना खाने चली ही थी कि बाबू ने कहा—'अँगीठी में कोयले धर जा।' कोयले देकर चली तो मुन्नू बाबू पड़ोस की लड़की को प्रेम-पत्र लिखकर, ज्यों ही बिस्तर पर गए एक गरज सुनाई पड़ी—"हरामजादी ने बिस्तर की चादर क्यों नहीं बदली? इतनी मैली चादर हटा यहाँ से, चल जल्दी।"

सफ़ेद चादर बहूरानी से माँगते हुए भी उसने एक फटकार खाई—'कम्बख्त, एक बार नहीं सब काम ठीक कर लेती।"

किसी तरह सब काम निबटाकर खाने बैठी तो एक फटकार खाई—"जल्दी खाकर रसोई के पीछे वाली खिड़की में ताला दे।"

सवेरे तड़के से कोल्हू के बैल की तरह काम और मार फटकार से पिसती हुई सुखिया के टूटे हुए दिल में फिर विचारों का तार जुड़ने लगा—कितनी जल्दी काम करूँ? हर काम के साथ जल्दी का हुक्म मिलता है। कैसे मैं जल्दी से जल्दी हाथ पैर चलाऊँ! भगवान् नौकर की देह में मशीन क्यों नहीं लगा देते? जल्दी-जल्दी कौर निगलती हुई सुखिया सोच रही थी—मशीन लग जाए तो सब काम जल्दी हो जाय।

अपनी भूमिशय्या पर लेटकर चीथड़ों गूदड़ों से लिपटने का सुखिया ने अभी अवकाश पाया था, कि सहसा उसकी कोठरी के दरवाजे पर किसी ने जोर से थपथपाया। पहली बार सुखिया ने अपनी बेसुधी में सुना ही नहीं, दूसरी बार फिर साथ ही कई थपथपाहट सुन पड़ी। सुखिया ने चौकन्नी होकर मुँह पर का कपड़ा हटाया, गर्दन उठाई, इधर-उधर देखा—डरे हुए स्वर से पूछा—"कौन है?" "मैं हूँ पहाड़ी, सुखिया खोल दरवाजा। यह चिट्ठी ले, बाबू को दे आ फ़ौरन्। एक आदमी दे गया है—बड़ी ज़रूरी है।" सुखिया घबराई हुई चिथड़ा-गुदड़ा हटाकर जल्दी से उठी और दरवाजा खोल दिया। पहाड़ी जल्दी से अन्दर घुस आया और एक हाथ से किवाड़ भेड़ते हुए एक हाथ जेब के अन्दर डाल बोला—"मालूम होता है कोई गुप्त चिट्ठी है चुपचाप दे आ।"

डरी सुखिया अलग खड़ी थी उसने जैसे ही लेने को हाथ बढ़ाया

बिजली की तरह पहाड़ी ने अपनी मज़बूत बाहों में कस लिया और उसके मुँह के पास मुँह ले जाकर फुसफुसाकर कहा—"चुप रहने में तेरी खैरियत है। ख़बरदार जो चिल्लाई तो गला घोंट दूँगा।"

सुबह अपने नियत समय पर जब सुखिया उठकर काम में नहीं लग गई तो घर भर के वज्र कण्ठ एक साथ ही गूँज कर घनघोर हो उठे। सुखिया जैसे बेहोशी की हालत से चौंककर उठ बैठी—सारी देह दर्द से टूट रही थी, आँखें जल रही थीं। उसने एक बार रुआसी नज़र से चारों ओर देखा और फिर एक बारगी फूट-फूटकर रो पड़ी। रोने की आवाज़ सुन कर बीबी जी दौड़कर आई—पूछा—"क्यों रो रही है री ?"

सुखिया के नन्हें हृदय में जैसे रोदन का समुद्र उमड़ आया, वह और भी ज़ोर से फफक उठी।

—"अरी कुछ बताएगी भी कि रोती रहेगी—" ज़रा झल्लाकर बीबी जी ने कहा—भयवश रुदन के वेग को बाँधने का प्रयत्न करते हुए हिचकियाँ लेती सुखिया अटक-अटक कर आँसू-भीगे स्वर से बोली—"मुझे अपने गाँव पहुँचा दीजिए, मैं यहाँ न रहूँगी।"

—"क्यों, क्या हुआ री ?" अब बीबी जी का स्वर सप्तम पर पहुँच गया था।

—"मैं जाऊँगी, मुझसे यह सहा नहीं जायेगा..." कहते कहते फिर रोने लगी।

बीबी जी ने त्योरियों पर बल डाले हुए जाकर बाबू से कह दिया। बाबू आकर गरजने लगे—'नख़रा फैलाया है री, उठती क्यों नहीं ?" रोती रोती सहमी सुखिया उठ बैठी। तब तक बहूरानी भी आ धमकीं। "क्या सारे घर भर को आसमान पर उठा रक्खा है। चुड़ैल कहीं की। बड़े दिमाग़ हो गए हैं मर्दों तक का डर नहीं—" और आव देखा न ताव पास पड़ी एक लकड़ी उठाकर धमक ही तो दी।

"अरी मैया री"—चीख़कर वह फिर लुढ़क गई। अब ज़रा बहूरानी का ग़ुस्सा ठंडा पड़ा। थोड़ी देर तक तो चुप रहीं फिर आहिस्ता से बोलीं—"अरी बता तो सही, तुझे क्या हुआ ?"

सुखिया ने छटपटा कर आँखें खोलीं। बहूरानी के मुलायम शब्दों से जैसे दुख और पीड़ा के सागर में उसे एक तिनके का सा सहारा प्राप्त हुआ। उसने सिसकते हुए कहा—"मुझे पहाड़ी ने तंग किया है बहूरानी, मैं यहाँ न रहूँगी।" और फिर वह रोने लगी।

बहूरानी के पैरों तले जैसे साँप पड़ गया हो। दो क़दम अलग हटकर चिल्लाकर बोलीं—"अरे सुनते हो इस छिनाल के गुन। अब जाकर भण्डा फूटा। मैं कहती थी क्यों इसके मिजाज बढ़ गए हैं। नहीं जानती थी इसमें यह चरित्तर भरे पड़े हैं। इसे आज पहुँचा दो गाँव। निकाल बाहर करो इस डायन को—सयानी लड़की लड़के तुम्हारे घर में हैं, ऐसी बदचलन को नहीं रखना है।"

अभागिनी लड़की को उसी दिन झोंटे पकड़ कर निकाल दिया गया।
